अध्याय -तीन

आदिवासी समाजः विस्थापन और संघर्ष

३.१आदिवासी समाज की अस्मिता का संघर्ष

कोई इन्हे 'वनवासी' या 'वन्य जनजाति' कहता है तो कोई इन्हे उपहास से 'जंगली' या 'लंगोटिया' के नाम से संबोधित करता है। कोई इन्हें 'भूमिपुत्र' या 'वनपुत्र' कहना समीचीन समझता है तो कोई उन्हें भारत माता की 'आदि संतान' या 'आदिपुत्र' कहता है। यहां तक कि जंगल के 'अनाभिसिक्त राजा' के रूप में भी उनका गौरवपूर्ण उल्लेख किया जाता है भारतीय संविधान में उन्हें 'अनुसूचित जनजाति' के रूप में संबोधित किया है।

वास्तव में, आदिवासी आर्यों से पूर्व का मनुष्य समूह है। वह इस भूमि का मूल मालिक है। सही अर्थ में वही क्षेत्राधिपति है। भारत अनेक जनजातियों धर्म-पंथों तथा संस्कृति संप्रदायों का भंडार है। जाति व्यवस्था भारतीय समाज व्यवस्था का प्राण-तत्व है। आर्यों का भारत आगमन, आर्य-अनार्य के मध्य चला दीर्घकालिन संघर्ष आर्यों द्वारा अनार्य आदिवासियों का क्रूर संहार और आतंक, जिसके चलते उन्हें गिरिकुहरों तथा वनों में आश्रय लेना पड़ा कोई मनोरंजनकारी घटनाएं नहीं है, जिन्हें पढ़कर भुलाया जा सके। सही अर्थों में यहीं से आदिवासियों की

सामाजिक दुर्दशा का प्रारंभ हुआ। यही उनके बनवास की कालरात्रि की शुरुआत है उनके पूर्णता पिछड़ेपन का पूर्णरूपेण कारण बनी और वर्ण व्यवस्था भी यहीं से शुरू हुई और उन्हें वनों-जंगलों की ओर भागने का कार्य भी तभी संपन्न हुआ।

सैकड़ों साल बीत गए पर आज भी अनार्य आदिवासी जंगलों वनों और गिरिकुहरों में समूहों में रहकर जीवनयापन कर रहे हैं । दैत्य, पिशाच, राक्षस, असुर ऐसे अनेक उपहास पूर्ण शब्दों में अनार्यों के अस्तित्व की चर्चा वैदिक साहित्य तथा रामायण, महाभारत आदि ग्रंथों में की गई है। इससे यह आसानी से समझा जा सकता है कि इनके जीवन को देखने की तत्कालीन समाज की नीति क्या होगी?

भारत की ९० प्रतिशत कोयला खाने, ७२ प्रतिशत वन और अन्य प्राकृतिक संसाधन और ८० प्रतिशत अन्य खनिज पदार्थ आदिवासी भूमि पर पाए जाते हैं। ३००० से भी ज्यादा जल विद्युत बाँध भी इन्हीं क्षेत्रों में बनाए गए हैं। इसलिए स्पष्ट है कि भारतीय औद्योगीकरण और शहरीकरण के मूल संसाधन पूर्णतया आदिवासी क्षेत्रों से ही आते हैं। लेकिन इस विपुल संपदा का एक छोटा सा भाग भी आदिवासियों के हिस्से में नहीं आता। अपनी नदियों और जमीनों पर उनके अविच्छिन्न अधिकार भी दूसरों को दे दिए गए। इसके फलस्वरूप ८५ प्रतिशत आदिवासी 'सरकारी गरीबी रेखा' से नीचे रह रहे हैं।

अनुसूचित जनजातियों के लिए राष्ट्रीय आयोग ने पाया कि देश के कुल बंधुआ मजदूरों में से ८३ प्रतिशत अनुसूचित जनजातियों के हैं, इसके अलावा वन क्षेत्र घटते चले जा रहे हैं क्योंकि कुछ सर्वोत्तम वनों को वन्य जीवन क्षेत्र और राष्ट्रीय उद्यान अर्थात् संरक्षित प्रदेश घोषित कर दिया गया है। लगभग ९० प्रतिशत आदिवासी अपनी जीविका के लिए कृषि पर निर्भर हैं। इसके अलावा शिकार और वनोंपज जमा करना भी उनके जीवन का आधार है। लेकिन जैसे-जैसे आदिवासियों को उनकी जीविका के साधन स्रोतों से दूर किया जा रहा है, वैसे-वैसे उनके आधारभूत कार्यकलापों में भी कमी आती जा रही है। आदिवासियों से उनके वनों और उनके पूर्वजों की आवाज सुनी जा रही है, जिसे कई लोग देशी उपनिवेशीकरण भी करते हैं।

वास्तव में, आधुनिक भारत की रचना में अनेक जनजातियों का थोड़ा-बहुत जो भी योगदान है, वैसा ही आदिम जनजातियों का भी रहा है- इसे न मानना ठीक नहीं है। राष्ट्र की सांस्कृतिक रचना में इन जनजातियों का केवल योगदान ही नहीं अपितु मातृभूमि की रक्षा में इनका सर्वस्व त्याग भी बहुत बड़ा है। आदिवासी ही हमारी लोक संस्कृति और लोक कलाओं के संरक्षण और विकास में सबसे आगे रहे हैं। सच बात तो यह है कि यदि लोक संस्कृति और लोक कलाएँ आज जीवित है तो उसका मूल श्रेय दलितों और खासतौर पर

आदिवासियों को जाता है। प्रकृति और अपनी मूल संस्कृति का संरक्षण तो आदिवासी जीवन पद्धति का अहम हिस्सा है। वे आज भी जल, जंगल और जमीन के लिए संघर्ष कर रहे हैं। आज भी आदिवासी बस्तियों में प्रायः नवजागरण का कोई निशान तक नहीं मिलता। दलित-आदिवासी साहित्य की तरह उनकी लोक कलाओं में भी प्रतिरोध के स्वर प्रतिध्वनित होता है। हालाँकि वनों के निविड़ टापू में वे शांत जीवन जीने के आदी है और किसी बिचौलियों के हस्तक्षेप को पसंद नहीं करते। उनका जीवन उनका साहित्य और उनकी लोक कलाएँ सभी मौलिक हैं जो किसी अनुवादक की मोहताज नहीं है।

आदिवासियों को अन्य समाजों से अलग करने वाली सबसे बड़ी विशेषता है अपने क्षेत्र से उनके खास जुड़ाव और उनके समुदाय का प्रकृति से अंतरंग संबंध। उनके लिए अपने साधन स्रोतों के प्रबंध का अर्थ यह नहीं है कि अलग-अलग परिवारों के बीच भूमि का बंटवारा कर दिया जाए। आदिवासियों की दृष्टि में कोई व्यक्ति या समुदाय तभी भूमि से जुड़ता है, जब वे अपने पूर्वजों से लेकर पीढ़ी दर पीढ़ी उस जमीन पर बसा हुआ हो। आदिवासी का क्षेत्र उसकी सामूहिक चेतना का विस्तार होता है, जिसका अपना सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक महत्व है। इसी के बूते पर कबीले के ज्येष्ठ व्यक्ति समुदाय का संचालन करते हैं। आदिवासियों का ज्ञान, अध्यात्म और धर्म व्यवस्था भी प्रकृति

से उनके गहरे संबंधों पर ही आधारित है। उनकी दूसरी विशेषता है- समुदाय की सभी आवश्यकताओं को समुदाय के भीतर ही पूरा करना और अपनी जरूरतों के लिए बाजार पर कम से कम निर्भर रहना।

आज आदिवासी शब्द के उच्चारण से ही हमारे सम्मुख खड़ा हो जाता है- प्रत्येक सदी से छला-सताया, नंगा किया और सोची-समझी साजिश के तहत वन जंगलों में जबरन भगाया जाता रहा एक असंगठित मनुष्य। वह मनुष्य जो अपनी स्वतंत्र परंपरा सहित, सहस्त्र सालों से गाँव-देहातों से दूर घने जंगलों में रहने वाला संदर्भहीन मनुष्य है- जो एक विशेष पर्यावरण में अपने सामाजिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों को जान की कीमत पर सजोए, प्रकृति-निर्भर, कमर पर वित्तेभर चिंदी लपेटे, पीठ पर आयुध लेकर, भक्ष्य की खोज में शिकारी बना, मारा-मारा भटक रहा है। कभी राजनीतिक तथा सांस्कृतिक वैभव से इतराने वाला यह कर्तव्यशील मनुष्य, परंतु वर्तमान में लाचार, अन्यायग्रस्त तथा पशुवत जीवनयापन करने वाला मनुष्य । यही उसका कुल जीवन है, वेदना से भरा लोकाचार है।

सूर्यास्त के साथ-साथ गिरिकुहरों में उसकी हलचल बंद हो जाती है । सूर्योदय के साथ-साथ भोजन की खोज में वन की सकरी,कटीली पगडंडियों पर उसके नंगे पैर, चिलचिलाती धूप में तपी उसकी पीठ, यदि भोजन मिल जाए तो कंधों पर शिकार का बोझ। यही है

आधुनिक भारत में आदिवासी का करुणापूर्ण दृश्य। दिनभर की भटकन के बाद आई थकान को दूर करने के लिए थोड़ी-सी रोशनी में मस्त महफिल लगाई जाती है। उस संगीत महफिल में देहभान भूलकर आदिवासी स्त्री-पुरुष, बच्चे, युवक-युवतियाँ तथा बड़े-बूढे सामूहिक रूप से नित्य करते हैं, गाते हैं और अपने सांस्कृतिक मूल्यों को संजोए रखते हैं। ये मूल्य ही उनके सामूहिक जीवन के खास वैशिष्ठ हैं। एक नहीं ऐसी कई आदिवासी पीढ़ियों का यह सांस्कृतिक आचार उनकी समूह चेतना को प्रेरणा देता आ रहा है। खुशी के भीतर से उनका सांस्कृतिक निरालापन निर्मित होता है। आदिवासी संस्कृति की अपनी विशिष्ट पहचान है। इसके अंतर्गत जाति समानता, लिंग समानता, सहभागिता, सामूहिकता, भाईचारा एवं सबसे विचित्र प्रकृति से निकटस्थ संबंध एवं प्रकृति प्रेम है। जो अन्य सभी संस्कृतियों से आदिवासी संस्कृति को पृथक करता है। आदिवासी संस्कृति में मनुष्य का जीवन बिल्कुल सादा है। इनका दृष्टिकोण उपयोगितावादी है और विचारधारा 'जियो और जीने दो' की है। उपयोगिता के साथ-साथ इनकी कार्य-योजना सामूहिक सहयोगिता एवं अनुशासन पर टिकी हुई है। आदिवासी चेतना के अंतर्भाव में प्रकृति के नियम के अंतर्गत संग्रह की अपेक्षा त्याग-प्रतिशोध की अपेक्षा दया-क्षमा आदि का महत्वपूर्ण स्थान है।

आदिवासी समाज की जरूरत है बिल्कुल सामान्य व सीमित हैं। किसी भी वस्तु का एकीकरण इनकी संस्कृति में नहीं पाया जाता। यह प्रकृति के पुजारी हैं। इनका धार्मिक स्थल कोई इमारत एवं भवन ना होकर खुला आकाश होता है, जहाँ कहीं भी ये अपनी उपासना, आराधना कर सकते हैं। आदिवासी संस्कृति एवं प्रकृति में एक गहरा आत्मीय रिश्ता है, तभी तो प्रकृति प्रदत्त वृक्षों को आदिवासियों ने अपने जीवन से जोड़ लिया है। उनका यह सांस्कृतिक निरालापन, ही उनके समूह-जीवन की आधारशिला है।

३.२ आदिवासी समाज के विस्थापन की समस्या

भारत के इतिहास में आदिवासियों का अपना इतिहास रहा है। उनकी संस्कृति, खान-पान, रहन-सहन, बोली-भाषा सब कुछ अजूबा है। आज आदिवासियों की स्थित सोचनीय है। पेरू माचीग्रेका हो, अफ्रीका के जूल, भारत के जरवा हो या पहाड़िया, ये लूट, प्रवंचना, वेदखली, संहार और शोषण के शिकार बन रहे हैं। अपने देश में एक ओर तो उन्हें अपनी सांस्कृतिक धरोहर के शो-पीस के रूप में गणतंत्र दिवस या दूसरे उत्सवों में पेश किया जाता है या फिर दमन अन्याय के शिकार के रूप में। जबकि ये पूरी दुनिया में साम्राज्यवादी खूनी पंजों की जकड़न में छटपटाते हुए दिखाई देते हैं। हिंदी की कई पत्रिकाओं में आदिम

जनजातियों पर लेखन हुआ है। प्रायः ४० वर्ष पहले वैश्विक आदिम जनजातियों पर 'धर्मयुग' अंक निकाला गया था।

आदिवासी समाज के प्रति मीडिया और साहित्य के दो तरह के दृष्टिकोण हैं एक तो आँख मूँदकर आह-वाह करना और दूसरा उन्हें सुधारने का बीड़ा उठाने वाली स्वयं शक्तियों का। कुछ विद्वान आदिवासी की संस्कृति में हस्तक्षेप के विरोधी हैं तो कुछ उन्हें मुख्यधारा में ले आने के पक्षधर हैं। परंतु अरण्यमुखी व्यामोह त्यागकर मुख्यधारा में आए बगैर उनकी उन्नति संभव नहीं है, बेशक यह उन्हें विश्वास में लेकर मौजूदा दौर में असली संघर्ष आदिवासियों के गाँवों को छीनकर देशी-विदेशी पूँजीपतियों को देने के विरुद्ध है। कोयला खदानों, जंगलों, वनों को समाप्त करके आदिवासियों को खदेड़ने की योजना बनाई जा रही है। छल-बल-दल से इन आदिवासियों को खदेड़ने पर सरकार तुली हुई है, ताकि उस खनिज वनज संपत्ति को उद्योगपतियों को दिया जा सके। ६४० गाँव को खाली कराए जाने की खबर है । कुछ समय पहले हुए घोटालो में बड़ा घोटाला कोल ब्लॉक आवंटन और उड़ीसा में बॉक्साइट आज के कब्जे की नीति इन्हीं सब से संबंध है।

हमारे देश में खनिज संपत्ति के रूप में कई कानून बनाए गये हैं। सन् १८६४ई॰ का वन कानून, सन् १९२७ई॰ का वन कानून संशोधन, सन् १९३२ई॰ की वन नीति तो सन् १९५७ई॰ में एक एक्ट बना

कोल बीयरिंग, जिसके तहत कोयले के लिए किसी भी गाँव को खान मालिक खाली करवा सकते थे। प्रायः सभी बाँध और कल-कारखाने आदिवासी गाँवों को विस्थापित करके बने हैं। नीतियों और अनुशासनों को १९८४ई॰ तक तोड़-मरोड़ कर मालिकों के हित के अनुसार ढाला जाता रहा। एक सर्वेक्षण के अनुसार उड़ीसा, छत्तीसगढ़ को छोड़ भी दें तो मात्र झारखंड में विकास के नाम पर ५०००० एकड़ जमीन पर बसे १५००००० आदिवासियों को बेघर, बेजमीन किया गया। विकास के ध्वज वाहक टाटा, मित्तल, एस्सार आदि के द्वारा भूमि अधिग्रहण हो रहा है। इसके लिए सरकार की नीति जिम्मेदार है। दूसरी तरफ ऑर्गेनाइजेशन अगेंस्ट ट्रेडिशन नामक गैर सरकारी संस्था के नायक घनश्याम विरुति पूरी ताकत के साथ यूरेनियम जनित संहारक प्रदूषण के खिलाफ संघर्ष कर रहे हैं। इसके बावजूद सरकार मनमानी कर अमेरिका से समझौता कर रही है। मध्य प्रदेश में नर्मदा डूब क्षेत्र के विस्थापितों को न्याय मिले इस हेतु मेधा पाटेकर कई वर्षों से आंदोलन चला रही हैं। कहीं अरुंधती राय है, कहीं संदीप पांडे तो कहीं कोई और विवेकशील मानवतावादी देशवासी। सबकी एक ही गुहार है कि देश के विकास के नाम पर देशवासियों के विस्थापन, निर्वासन और बलि को बंद करो। लेकिन बलि है कि वह बंद होने का नाम नहीं लेती। अगर एस॰एन॰ चौधरी की रिपोर्ट सही है तो देश के १५५ थर्मल पावर प्लांट प्रस्तावित हैं, कुछ प्रोजेक्ट पाइप लाइन में है। प्रत्येक प्लांट के लिए तकरीबन १००० एकड़ जमीन चाहिए। इन प्लांटों

की योजनाएँ आदिवासी क्षेत्रों में हैं। डेढ़ लाख आदिवासियों को महज इसी निमित्त विस्थापित होना पड़ सकता है। इतना ही नहीं बिजली के नाम पर कोयला खदानों को समाप्त करके आदिवासियों को खदेड़ दिया जा रहा है। प्रख्यात किया जा सकता है। दक्षिण अफ्रीका में जूल या जूलू से लेकर दूसरे तमाम आदिवासी संदर्भों में यह बात कही जा सकती है। रंग-भेद दैहिक बनावट, रुचि, बोध, संस्कार, भौगोलिक परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखते हुए आदिवासियों की उन्नति की बात करनी चाहिए। उनकी सरलता, सच्चाई को प्रणाम है, पर कुछ जलती हुई सच्चाइयों पर अंतर्विरोध से भी हम आँख नहीं मूद सकते------ मसलन आदिवासी कहने से सभी आदिवासी एक नहीं हो जाते हैं। उनमें भी स्तरीकरण है परस्पर अविश्वास है जैसे मुंडा और हो - दोनों जनजातियाँ असुर नामक जनजाति से घृणा करती है, कारण वह लोहा बनाती है जो ईश्वरीय सत्ता में हस्तक्षेप हैं। आदिवासी जमात मूलतः शोषण का शिकार ही अधिक रही है। भंवरी देवी जो शिक्षा का प्रसार और अज्ञान कुसंस्कारों का विरोध कर रही थी उसका सवर्णों ने बलात्कार किया। आदिवासियों ने भी वीरभूमि में आदिवासी लड़की को ९ किलोमीटर नंगा घुमाया था। दूसरी ओर आदिवासी लड़की को गैर जात के लड़के से प्रेम करने के कारण २५००० का जुर्माना लगाया जाता है ग्राम पंचायत के १३ आदिवासियों द्वारा सामूहिक बलात्कार कराया जाता है। बस्तर के सोनी हो, लिंगाराम हो या अरुणाचल की इरोम

श्यामली, सरकारी दमन की एक-सी कहानी है। कभी उसका नाम सलवा जुडूम, कभी ग्रीन हंट, कभी कुछ और--------।

मानवविद् डॉक्टर श्रीनिवास की माने तो ब्राह्मणवाद की कृपा से कुल ४७ जातियाँ है मगर उनमें से एक तिहाई आदिवासी हैं। मध्य प्रदेश में ४१ विधायक है स्वयं मुख्यमंत्री भी हैं। इन लोगों ने जन या क्षेत्र के विकास के लिए क्या किया? छत्तीसगढ़ के पूर्व मुख्यमंत्री भी आदिवासी ही थे और झारखंड में मुख्यमंत्री से लेकर प्राय सभी सांसद-विधायक आदिवासी रहे हैं। मीणा और ओरॉव जनजातियाँ उच्च पदों पर आसीन है और इनकी संख्या बढ़ती ही जा रही हैं। छठी अनुसूची में उत्तर पूर्वी आदिवासी बहुल प्रांतों को कितने अधिकार मिले है, सूरत तो अब तक काफी हद तक बदल जानी चाहिए थी लेकिन बदली ही नहीं। अन्य जाति के लोग असुरों से घृणा करते हैं। समाज में स्त्री को संपत्ति के अधिकार अभी भी नहीं मिले हैं। टोना-टोटका जनित समाज और पिछड़ापन आज भी फल-फूल रहा है। इसलिए माफ करें हमें 'आह' के लेखन की जगह आत्मीयता भरा विश्लेषणवादी लेखन चाहिए।

सामाजिक आर्थिक और साहित्य क्षेत्र में आज काफी चर्चा का विषय रहा है, भूमंडलीकरण। जिन पर इसकी मार पड़ी है उनके ध्यान में यह विषय जल्दी आ गया है। फिर भी अनेक प्रश्न उपप्रश्न अनुत्तरित है जिन इकाइयों के फायदे है वे पूरा जोर लगाकर इसकी

वकालत कर रहे हैं। यह विषय और इसके परिणाम जिनकी समझ में आए है, वह बोल रहे है लेकिन उनकी आवाज व्यवस्था तक पहुँचती नहीं हैं। अगर इनकी आवाज पहुँचती तो भी अनसुना किया जाता है। सामाजिक एकता ना होना है इनके पीछे का एक कारण होगा। इस विषय के बारे में मराठी के प्रसिद्ध चिंतक श्री उत्तम कांबले का कथन देखने लायक है। वह कहते हैं कि "बहुतों को वह इकाई अथवा वह आयाम समझ में आया है जिस कारण उनका अपना व्यक्तिगत रूप से कुछ नुकसान हुआ है। मतलब कामगारों को स्वेच्छा निवृत्ति (बी•आर•एस•) जल्दी समझ में आ गई। मजदूरों को छटनी समझ में आ गयी। विदेश से आने वाले फल, दूध से संबंधित पदार्थ तथा अन्य चीजें आने से बाजार पर उसका कैसे प्रभाव हुआ इसे किसान जल्दी समझ गये। मतलब जिसका जहाँ नुकसान हुआ जिसको जहाँ आघात पहुँचा उतना ही उनकी समझ में आ गया। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति मन से लेकर भौतिकता तक, पसंद न पसंदी से लेकर विभिन्न वस्तुओं तक विविध अंगों से फैली हुई है।" यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जिनको पढ़ना लिखना आता है, जिनको इन चालाकियों के बारे में समझ है उनका ठीक है। परंतु जो गिरी पर्वतों में रहते है, जिनके लिए शिक्षा की सुविधा नसीब नहीं है, जिनको व्यापार और उसके हथकंड़ो के बारे में कुछ भी जानकारी नहीं है, उनको। पर्वत बेचे जाते हैं, पानी बेचा जाता है यह मालूम नहीं हैं। गिरी पर्वतों में रहने वाले ये गिरिजन पहले से ही नंगे हैं।

भूमंडलीकरण के कारण आदमी नंगा होता है, यह भी उनको मालूम नहीं। मुझे ऐसा लगता है कि किसी भी राष्ट्र की शिक्षा, आरोग्य व्यवहार, व्यापार आदमी के हित के लिए होने चाहिए। यहाँ वर्ग और वर्ण के आधार पर बहुत से भेद किए गए हैं। जिसकी सजा हम भोग रहे हैं। अब नवीन पद्धति से मानव-मानव में भेद करने का षड्यंत्र भूमंडलीकरण के कारण निर्माण किया गया है। यह बहुत बड़ी साजिश है। विश्वग्राम के नाम पर बहुत ऊपरी हिस्से के लोगों का कल्याण हो रहा है। लेकिन व्यापार से पैसा और पैसों से व्यापार और उससे मुनाफा इस दौड़ में गरीब आदमी वहिष्कृत हो रहा है। चमकीली दुनिया और शाइनिंग यह इनका उद्देश्य हैं। इस देश में तकरीबन पाँच लाख पचहत्तर हजार गाँव है। देश की सारी समृद्धि और संपत्ति वहाँ है। इन्हें मुख्यधारा में लेना आवश्यक है। आम आदमी जितना सशक्त होगा उनका गाँव, राज्य, राष्ट्र, शक्तिशाली बनेगा। आज भूमंडलीकरण के कारण लगभग ८०प्रतिशत लोग मुख्यधारा में नहीं आते। सही बात तो यह है कि इनको आम आदमी को सशक्त गतिशील आनंदी नहीं देखना है। ऐसे नवनवीन हथकंडे निकाले जा रहे हैं कि आम आदमी कुछ करके इन तक पहुंचे तो तुरंत नवीन आविष्कार की खोज निकालते हैं। परिणाम यह होता है कि आम आदमी वहाँ तक पहुँचता ही नहीं। भूमंडलीकरण के कारण शिक्षा बेची जा रही है। जिसके पास पैसा है उनकी अलग शिक्षा व्यवस्था की जा रही है। जो गरीब झोपड़पट्टी में रहते हैं उनको नगरपालिका, महानगरपालिका के

स्कूलों में जाना पड़ता है। जिनके पास पैसा है उनके बच्चे नवीन तकनीक के आधार पर शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। ट्यूशन, नवीन उपकरण की सुविधा उनके लिए होती है। आगे यही युवा अच्छे पदों पर विराजमान होते हैं। जंगलों में, पर्वतों में, गाँवों में रहने वाले बच्चे, पारंपरिक शिक्षा के कारण वही के वही रह जाते हैं। उनके नसीब में चपरासी की नौकरी होती है। हाँ, इन गरीब बच्चों के पास मेहनत, बुद्धि होती है परंतु पैसों के कारण वहाँ तक वह पहुँच नहीं पाते। भूमंडलीकरण के कारण बनी व्यवस्था के कारण कुछ लोग, जमीन जायदाद बेचते है और अपने बच्चों की पढ़ाई के लिए पैसा खर्च करते हैं। भूमंडलीकरण के ठेकेदारों को यही तो चाहिए कि आम आदमी के पास जो है वह बेचता रहे जिसे कम कीमत में यह लोग खरीदते हैं। आगे यह गरीब बच्चों की नौकरी के लिए परेशान रहता है। उस वक्त उसके पास बेचने के लिए कुछ नहीं रहता। वह बेकार घूमता फिरता रहता है। भूमंडलीकरण गरीब और अमीरों की दूरिया बढ़ा कर जातियाँ निर्माण कर रहा है। समाज कभी एकत्र नहीं होना चाहिए, यह उनकी चालबाजी है। नव धनाढ्य वर्ग के बाकी सारे गुलाम, यह इनकी साजिश है। भारतीय संस्कृति में सुदामा और कृष्ण एक ही जगह पढ़ाई करते थे। इस कारण भारत विश्व सुंदर था। इन्हें यह होने नहीं देना है। आर्थिक कारणों से गुलाम बनाकर, अपने इशारों पर नचाना इनका उद्देश्य रहा है। अब महत्व यंत्रों को है मनुष्य को नहीं। हर बात का विभाजन करना इनकी नीति है। पहले मनुष्य की जातियाँ निर्मित

की। अब पानी की जातियाँ निर्मित की जा रही हैं। अमीरों के लिए अलग पानी, आम आदमी के लिए अलग पानी। पानी के व्यवसाय-व्यापार से लोग धनी बन रहे हैं। प्रेमचंद्र ने एक जगह कहा है कि जो प्रकृति प्रदत्त होता है उस पर सभी का समान अधिकार होता है। बुद्धिमान व्यवसायियों के ध्यान में आया है कि प्रकृति के गर्भ में बहुत कुछ है जिससे हम मालामाल हो सकते हैं। पानी, पत्थर, पेड़, खनिज बेचकर नव धनाढ्य वर्ग बन रहा है और यही लोग व्यवस्था के आसपास हैं। व्यवस्था भी गूंगी बनकर मौन है। क्योंकि व्यापार-व्यवसाय करने वाले अधिकतर लोग राजनीतिक है अथवा उनसे संबंधित हैं। मेरे लिए हैरानी की बात है कि भूमंडलीकरण का समर्थन करने वाला बहुत बड़ा वर्ग नहीं है, लेकिन एक वर्ग यहाँ बन रहा है। मराठी के एक प्रसिद्ध लेखक से इसी विषय पर मेरी चर्चा हो रही थी। मैं हैरान, परेशान रहा वे कहने लगे भूमंडलीकरण आवश्यक है, फायदे का है। इससे मनुष्य समाज अपडेट होता है, अपने आप को सुधारने का उसे मौका मिलता है। अपने गुण कश करने आने चाहिए। जो गुण कश नहीं करेगा वह पिछड़ा रहेगा। यह हैरानी का विषय है कि आप कुश्ती किसके साथ लगा रहे हो। प्रतियोगिता में सब बराबरी के होने चाहिए। बात गुण कश करने की है तो यहाँ जंगलों में रहने वाले, पहाड़ों के बीच जिंदगी गुजारने वाले, गाँव के बाहर झोपड़पट्टी में रहने वाले गाँव में स्कूल है लेकिन चार कक्षाओं के लिए एक ही शिक्षक है, गाँव में समय पर बिजली नहीं आती, जंगलों में तो सुविधाओं का सवाल

ही नहीं आता, मोबाइल कम्प्यूटर खरीदने के लिए इनके पास पैसे नहीं है बुवाई आने के बाद बीज खरीदने के लिए साहूकारों से कर्ज लेना पड़ता है कम्प्यूटर कहाँ से वे अपने बच्चों को देंगे यह बच्चे किसी तरह इधर-उधर काम करके अपनी पढ़ाई पूरी करते हैं और नौकरी के लिए प्रयत्न करते हैं। तकनीकी दुनिया की दौड़ में आदिवासी बच्चे पीछे रहते हैं आदि कारणों से। यह कैसे अपने गुण कश करेंगे। इस पद्धति से जान बूझकर अमीर-गरीबों की खाई निर्मित की जा रही है।

यह साजिश बहुत पहले से चल रही है। समय-समय पर उसके रूप और चेहरे बदलते रहते हैं। सर्वसाधारण आदमी उसे समझता नहीं। जब समझता है तब समय हाथ से निकल गया होता हैं। आज के अधिकांश राजनेता उस क्षेत्र से चुनाव लड़ना चाहते है, जो सर्वथा पिछड़ा हो। पिछड़े लोगों के अपने विचार नहीं होते। दुनिया से दूर रहते हैं। इनके पास चालबाजी नहीं होती। यह धोखा नहीं देते। इनको दूसरों पर आसानी से राज करने आता है। इनकी माँगे नहीं होती। बेजुबा होते हैं। गरीबी मजदूरी के कारण यह गरीब परेशान रहते है थोड़ा बहुत अनाज, कपड़े देने के बाद भी खुश रहते हैं। उपकार के बोझ तले जीते हैं। देने वाले को भगवान मानते हैं। यह राजनैतिक लोग चाहते हैं कि पूरा देश इस पद्धति से हो ताकि आराम से इन पर राज किया जा सके। यही लोग विश्वग्राम के पक्षधर हैं। यह लोग पूरी दुनिया को मंडी बनाना चाहते हैं।

जो अच्छा माल है उस पर पैसा कमाना। सड़ा गला फेंक देना। यह सड़ा, गला यानी यह गरीब जनता है, मंडी में मात्र व्यापार होता है वहाँ भावना शून्य होती है। वहाँ रिश्ते नहीं होते। अगर रिश्ते होते हैं तो वे पैसों के हिसाब से होते हैं। फिर जाँच कोई सी भी हो अधिक पैसा है तो वहाँ रिश्ते बनते हैं। मंडी से चेहरा नहीं होता वहाँ गति होती है। वहाँ यंत्रों की बात होती है। इसमें हिसाब किताब अधिक होता है। इस दुनिया से आम आदमी को दूर रखा जाता है। आम आदमी दूर से ही दुनिया को देखता है। उसे लगता है कि इस दुनिया से उसकी बात नहीं बनेगी फिर भी मंडी की दुनिया उसे अपनी ओर खींचकर नंगा कर देती हैं। बहुत पहले से यह यहाँ चल रहा है। हिंदी में एक गीत काफी प्रसिद्ध है---- "एक बादशाह हुआ तो यहाँ तो यहाँ सौ फकीर होते हैं।" अब यही है एक धनवान होता है तो हजारों गरीब होते हैं। ऐसे ही इनको दुनिया बनानी है। मनुष्य की जगह यंत्र रखकर मनुष्य को सत्वहीन, तत्वहीन बनाना इनकी साजिश है। गरीब मनुष्य इनके व्यापार का कच्चा माल है।

संगणक संस्कृति मनुष्य को पराजित कर रही है। वैश्विक महासत्ता लोगों को उच्चतम जीवन देने के लिए शोषण को आधार मानकर नवीन व्यवस्था निर्मित कर रही है। मनुष्य को अस्तित्वहीन, निराधार करना इस संस्कृति का काम है। आम आदमी को कर्ज लेकर जन्म लेना चाहिए, जीना चाहिए, कर्ज लेकर ही मरना चाहिए - ऐसी यह

संस्कृति है। मंडी को आपसी वेदना, संवेदना से कुछ लेना-देना नहीं है। वह मात्र पैसा देखती है। पाँच सितारा औद्योगिक संस्कृति का विकास करना यही इनका उद्देश्य है। यह संस्कृति और रोबोट की पूजा करना सिखा रही है और मनुष्य का तिरस्कार करना भी। अर्थात् भूमंडलीकरण से विश्व नजदीक आया है लेकिन मनुष्य दूर जाता नजर आ रहा है। मनुष्य गाँव छोड़कर शहर की ओर भाग रहा है। गाँव निरमनुष्य हो रहे हैं। शहर की चमकीली दुनिया गाँव के लोगों को आकर्षित कर रही है। गाँव में उदासी छाई है। कहा जाता था भारत गाँवों में है। वही गाँव शापित बन रहे हैं। गाँवों की यह अवस्था है तो जंगलों में, पहाड़ों के बीच रहने वाले आदिवासी की जिंदगी भूमंडलीकरण के कारण कैसी होगी, इसका विचार भी नहीं कर सकते।

कोई आदिवासी को मूलनिवासी कहता है तो कोई गिरिजन। दुनिया से दूर जंगलों में पहाड़ों में इनका बसेरा होता है। आज के शब्दों में ये सभ्यता से कोसों दूर रहते हैं। इनकी अपनी एक संस्कृति है। इनकी अपनी एक जिंदगी है। लेकिन प्रगति का एक भी सोपान इनके पास पहुँचा नहीं है। रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा आरोग्य बुनियादी जरूरतें भी इनके नसीब में नहीं है। ये जंगलों में प्राणियों जैसे रहते हैं। प्रकृति ही इनकी माँ, बाप, ईश्वर हैं। प्रकृति को ही वे अपना सब कुछ मानते हैं। प्रकृति इनके लिए वरदायिनी है। ये कबीले बनाकर रहते हैं। उन्होंने अपने

कुछ नियम बनाए हैं। यही उनकी संस्कृति है। भले ही वे प्राणियों जैसे रहते हैं परंतु वे प्राणी जैसे हिंसक नहीं है। अपने गीत, नृत्य, विवाह पद्धति संभाल कर जीते हैं। यह कहा जा सकता है कि इनके जैसी चित्रकला, नृत्य, विवाह पद्धति दुनिया में नहीं है। ये मुझे सर्वश्रेष्ठ लगती है। गोटुल मे रहकर अपना जीवनसाथी चुनने का अधिकार उन्हें है। यह अनपढ़ लोग बुद्धिमान कहने पड़ेंगे। हमारी सभ्य संस्कृति में ऐसा नहीं है। वारली चित्रकला आज भी सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। किसी भी संगीत विद्यालय, विश्वविद्यालय, महाविद्यालय में न जाते हुए, किसी पद्धति का भी प्रशिक्षण न लेते हुए इनके सुर, ताल देखने लायक हैं। प्रकृति में जो फल-फूल मिलते हैं उन्हें बेचकर वे गुजारा करते हैं। अब विदेशों से फल-फूल आ रहे हैं। तो इनकी हालत क्या होगी। यह सब भूमंडलीकरण के कारण हो रहा है।

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष मार इनके जीवन पर पड़ रही है। भूमंडलीकरण के कारण वे परास्त हो रहे हैं। प्रसिद्ध विचारक आनंद तेलतुबंड़े का कथन काफी महत्वपूर्ण है। वह इस प्रकार है- "वैश्वीकरण का जो बुनियादी दर्शन है नवउदारवाद, आत्मचिंतक, व्यक्तिवाद, खुला मुकाबला और आजाद बाजार वे सब के सब किसी भी जनतंत्र के विरोध में हैं। निजी संपत्ति पर मालिकाना हक को ऐतिहासिक रूप से प्राकृतिक अधिकार मानने वाले लोगों का व्यक्तिवाद की जड़े शक्तिशाली पथ रहा हैं।

यह उस सामाजिक सामूहिकता के ठीक उल्टा है, जिसमें संपत्ति के बरक्स इंसान को बचाते हैं। अलग-अलग व्यक्तियों की पूजा करना तो जनतंत्र के खिलाफ है। इसका दूसरा मंत्र खुला मुकाबला तो और भी खतरनाक है। यहाँ डार्विन के प्राकृतिक विकासवाद को सामाजिक विकासवाद में बदलने की साजिश है। जिसमें कमजोर लोगों को जीने का अधिकार भी नहीं हैं। इस मुक्त बाजार में व्यक्तियों को एक दूसरे से मुकाबला करने की जगह है। इसमें धनवान को ज्यादा महत्व दिया जाता है। जबकि जनतंत्र का बुनियादी सिद्धांत यह है कि सब लोग बराबर हैं। प्रजातंत्र में समुदायों और समूहों को भी तरजीह मिलती है जबकि नवउदारवाद इनको खारिज करता है और लोगों को आत्मलीन निहित स्वार्थ वाले इंसानों में बदल देता है। इस ख्याल से तो व्यापार को ही बढ़ावा मिलता है। क्योंकि व्यापार सामूहिकता को खत्म करके मजदूरों को बधिया करना चाहता है। प्रजातंत्र का आधार ही राज्य और राष्ट्र है। और वैश्वीकरण राष्ट्र, राज्य को सत्ता से हटाना चाहता है और इसे दुनिया में अकेले छोड़ना चाहता है ताकि राष्ट्र, राज्य पंगु करके जनता की जनतांत्रिक इच्छाओं को पूरा करने में असमर्थ बना दिया जाए। भूमंडलीकरण से बेहिसाब असमानता बढ़ने लगी है।" ऐसी अवस्था में आदिवासियों की हालत क्या होगी। बड़ी समस्या यह हैं कि दलित, आदिवासी व्यवस्था के सामने हाथ फैलाकर रोटी माँग रहा है और व्यवस्था पूछ रही है कम्प्यूटर आता है क्या?

आदिवासियों के बारे में सबसे दुखद बात यह है कि न कभी नियमानुसार इनकी जनगणना हुई न इनके लिए चुनाव कार्ड है न आधार कार्ड। कभी जनगणना हुई तो सब अंदाज से आंकड़े डालकर जनगणना के ग्राफ बनाए गयें हैं। अर्थात इनकी दुनिया को पहचान ही नहीं है। सरकार को भी इससे लेना देना नहीं हैं। जंगल-पर्वत के बीच सरकारी लोग पहुँचते ही नहीं । अगर पहुँच भी गए तो किसी एक को पकड़कर सारी जानकारी ली जाती है। यही उनकी पहचान बनाई जाती है। प्रसिद्ध चिंतक श्री उत्तम कांबले इस बारे में लिखते हैं कि "विश्वग्राम जब तैयार करने जा रहे हैं तब इस पर भी सोचना होगा कि ये जनजातियाँ कैसे जी रही है और भविष्य में जी सकेंगी या नहीं? इस नए विश्वग्राम में इनके हिस्से क्या आने वाला है यह प्रश्न महत्वपूर्ण है। इन अजनबी जनजातियों की प्राप्त जानकारी सुनते-पढ़ते समय आपको भी ताज्जुब लगेगा थोड़ी-सी मनोरंजक भी और अधिकांश पीड़ादायक भी। क्योंकि आज तक आपने ऐसा न सुना है और न पढ़ा है। इस देश की जनसंख्या सौ करोड़ है। इनमें से कई जनजातियों का अभी अध्ययन तक नहीं हुआ है। मुझे कई बार ऐसा लगता है कि इस देश की जनसंख्या सौ करोड़ से भी अधिक होगी। क्योंकि सौ करोड़ यह आंकड़ा सरकार ने दिया है और सरकार को कभी सत्य कहने नहीं आता। जब सरकार कहेगी कि वर्षा आयेगी तो समझ जाइये कि अकाल की संभावना है। इस कारण सौ करोड़ की यह जानकारी विश्वास योग्य नहीं है। अब इन पाँच करोड़ में से

शहर के आसपास केवल ६ प्रतिशत रहते हैं। इनमें सर्वाधिक संख्या जिनकी है वह है गोंड जिनकी संख्या ९४ लाख है। और सबसे छोटी जनजाति है- हैंसा, तांकसा, बोमडो, गाबों, कोनबो। इनकी संख्या एक से दस तक है। तो जाखात, पैमक, जनजाति की संख्या अठारह से तीस है। पाँच जनजातियों में एक ही व्यक्ति शेष है। यह १९८१ई• की जनगणना की जानकारी है। अब इस एकमात्र मनुष्य की क्या स्थित हुई होगी यह प्रश्न है। यह जनजातियाँ और उनसे संबंधित मनुष्य क्यों खत्म होते जा रहे है और उनके लिए जिम्मेदार कौन है? यहाँ की व्यवस्था? सरकार? संस्कृति? जीने की स्पर्धा या भूमंडलीकरण?" यह अवस्था है आदिवासी की। कैसे ये यंत्र के साथ भाग सकेंगे? कैसे यह कम्प्यूटर चलायेंगे? कहाँ से अंग्रेजी सीखेंगे? दुनिया के बाजार में इन्हें कहाँ जगह होगी? अगर स्पर्धा में उतरे तो भी हार निश्चित है। दुर्भाग्य की बात है कि इस देश में हारने वाले लोगों का इतिहास लिखा नहीं जाता।

विकास के नाम पर सामाजिक और मानवीय जीवन बर्बाद करने का जो सिलसिला चल रहा है वह थम नहीं रहा है। एक बात समझ में नहीं आती की विकास किसका? और किस लिए? अगर विकास की धारा वहाँ की जनता के लिए होगा तो ठीक है लेकिन विकास के नाम पर उनके जन्म-मरण के प्रश्न निर्मित हो रहे है तो वह किस काम का? एक स्वयंसेवी संस्था के सर्वेक्षण से यह बात स्पष्ट हुई है कि देश में

जितने भी कल-कारखाने हैं उससे निकलने वाला प्रदूषित पानी और वायु से जो मानवीय और प्राकृतिक नुकसान होता है वह किसी युद्ध अथवा आपत्ति से भी काफी भयानक है। महाराष्ट्र में कोंकण विभाग में जैतापुर प्रकल्प के विरुद्ध लोगों का विरोध इसी कारण है। इस प्रकल्प से निकली किरणे और समुद्र में छोड़े जाने वाले पानी से हजारों टन मछलियाँ और अन्य प्राणी रोज मरेंगे ऐसा अनुमान है। धनवान बनेंगे कारखानेदार, अधिकारी, कर्मचारी परंतु जमीन का मूल मालिक भिखारी बनेगा। शुरुआत में विकास के नाम पर लोगों को समझाया, धमकाया जाता है। उन्हें बहकाया जाता है कि युवा पीढी के हाथों को काम मिलेगा उनका नसीब बनेगा। लोगों को हिप्नोटाइज किया जाता है। आगे बर्बादी ही बर्बादी होती है। हैरानी की बात यह है कि इन सबके लिए सरकार कारणीभूत है। ऐसे प्रकल्पों को यह मान्यता देती है। लोगों के भविष्य, उज्ज्वल जिंदगी के बारे में कोई विचार यहाँ यह होता नहीं है। यहाँ हो रहा है कि अब तक हम झोपड़ी तक पहुँचे नहीं हैं और चाँद पर पहुँचने की बात की जा रही है।

हिंदी साहित्य में इस विषय पर काफी लिखा गया है और लिखा जा रहा है। संजीव, रणेन्द्र, महुआ माजी, मधुकर सिंह, रामनाथ शिवेंद्र, रमणिका गुप्ता, निर्मला पुतुल ने आदिवासी के विस्थापन का दर्द शब्दों में व्यक्त किया है। और इनका माध्यम कविता, कहानी,

उपन्यास है। मूलतः सरकार की योजनाएँ यह होनी चाहिए कि आदिवासियों को पहले शिक्षित करने के लिए अनेक प्रयोग करने चाहिए। शिक्षा से उन्हें दृष्टि आयेगी, समझ बढ़ेगी, भला, बुरा समझ में आयेगा। उनके जो कुटीर उद्योग हैं, उनके विकास के लिए प्रयत्न होने चाहिए। प्रयत्न कागजों पर नहीं बुनियादी होने चाहिए। इस देश में कभी शिक्षक शिक्षा मंत्री नहीं होता और खिलाड़ी खेल मंत्री नहीं होता। जो आदिवासी नहीं होता आदिवासियों का जिन्हें दर्द मालूम नहीं है वे उनके विकास के ग्राफ बनाते हैं। जो ग्राफ निकाले जाते है, वे वहीं रह जाते हैं। स्वतंत्र झारखंड के निर्मिति के समय जल, जंगल, जमीन की पवित्रता कायम रखकर आदिवासियों की संस्कृति कायम रखते हुए धीरे-धीरे उन्हें विकास के पथ पर लाते हुए, शिक्षा के माध्यम से उन्हें दृष्टि देकर उनकी प्रगति करनी चाहिए थी। हम शुरुआत ही ऐसी कर रहे हैं कि सीधे उन पर सभ्य संस्कृति थोप रहे हैं। झारखंड की जमीन में लोहे और कोयले का स्रोत अधिक है। आदिवासी लोहे के छोटे-छोटे उद्योग करते है कोयला बेचते हैं। उस पर उनका गुजारा होता रहता है। अब नगर बसाने के नाम पर जमीने हड़प ली गयी, जंगल तोड़े गये। परिणाम बेरोजगारी बढ़ी। सरकारी हिसाब से पैसे देने का वादा किया गया। पैसे दिए नहीं, कागजों पर अंगूठे के निशान लिए। उन्हें पढ़ना लिखना कुछ भी नहीं आता। कुछ तो नवीन आशादायक होगा इस हिसाब से भी खुश थे। हुआ यह कि वे बेघर तो हुए साथ ही साथ जमीन चली गयी, जंगल नष्ट हुए, कारखानों से प्रदूषित

पानी हुआ। टाटा जैसी अनेक कंपनियाँ आई जो लोहे से औजार बनाती हैं। आदिवासी के कुटीर उद्योग बंद हुए। बेकारी नसीब आयी। दिशाहीन आदिवासी विकास के पथ पर कहो या नक्शे पर कहीं दिखा ही नहीं। मालामाल हुए नेता, उद्योगपति। आज दस वर्ष होने के बाद भी झारखंड में आदिवासी के लिए जो सपना देखा था वह प्रत्यक्ष नहीं आया। समस्या वही की वही है। राज्य आदिवासी के लिए निर्माण किया गया। लेकिन उस राज्य के केंद्र में वह कहीं भी नहीं है कथाकार संजीव ने 'पांव तले की दूब' उपन्यास में आदिवासी जीवन का सही चित्रण प्रस्तुत किया है। उपन्यास में बेरोजगारी, विस्थापन का दर्द प्रमुख समस्या रही है। विकास के नाम पर शोषण की परंपरा यहाँ काम करती है। उपन्यास में सुदीप्त नामक पात्र है। जो आदिवासी के विकास के लिए जूझता रहता है। जंगल के साथ-साथ आदिवासी को उद्वस्त होते हुए देखकर वह बेचैन होता है। वहाँ व्यवस्था के विरोध में लड़ता है। गूंगी व्यवस्था चुप रहती है। सुदीप्त टकराकर हार जाता है। आदिवासियों का दर्द उससे सहा नहीं जाता, आखिर में वह आत्महत्या करता है। उसकी आत्महत्या का शासन व्यवस्था पर कुछ फर्क नहीं पड़ता। जंगल नष्ट किए जाने के कारण जैसे पशु-पक्षी नष्ट हो रहे हैं, वैसे आदिवासी की हालत हो रही है। संजीव उपन्यास के माध्यम से भूमंडलीकरण से निर्मित हुई भयावह स्थितियों का मात्र चित्रण ही नहीं करते बल्कि आगे आने वाली विपत्ति की ओर

इशारा भी करते हैं, लोगों को जगाते है, और परिणामों की गश्त लगाते हैं।

धोखा यह है कि मानवीय मूल्यों की जगह पर वस्तु मूल्य आ रहा है। उत्तम कांबले लिखते हैं कि "भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में पूँजीपति को केंद्र में रखने का प्रयत्न गेट (जनरल एग्रीमेंट ऑन ट्रेड एंड टेरिफ) डब्ल्यू• टी• ओ• (वर्ल्ड ट्रेड ऑर्गेनाइजेशन) जागतिक बैंक, अंतर्राष्ट्रीय नाणे निधि, उत्तर अमेरिका व्यापार करार आदि संस्थाएँ कर रही हैं। ये लोग रोज नया-नया तत्वज्ञान तैयार करके सामने ला रहे हैं। अर्थात् अमेरिका इसमें सबसे आगे हैं। विश्व के साहूकार की भूमिका उसे निभानी है। रूस और अन्य देश की साम्यवादी राजसभा नष्ट होने के बाद एंड ऑफ हिस्ट्री, एंड आप आयडोलॉजी की घोषणा की जा रही है। विश्व में अब बाकी है पूँजी। बाकी रहने वाली है पूँजी। पृथ्वी स्वयं के अथवा सूर्य के गोल घूमती नहीं है। पूँजीपतियों के आस-पास गोल-गोल घूमने का यह प्रयत्न है।" यही चित्रण हिंदी उपन्यासों में उपन्यासकारों ने किया है। 'ग्लोबल गाँव का देवता' रणेंन्द्र का प्रसिद्ध उपन्यास है। यह झारखंड की जिंदगी पर आधारित है अर्थात् आदिवासी के जीवन पर। झारखंड में आसूर, अगरियाँ जाति, लोहा जलाकर औजार बनाकर बेचती है। भूमंडलीकरण के कारण जमीन में लोहे का शोध लेने वाली विदेशी कंपनियाँ, टाटा जैसी कंपनियाँ, वेदांग जैसी कंपनियाँ वहाँ आयी। उन्होंने

कारखाने खोलें। मशीन के सामने आदिवासी हार गए। उनके औजारों का बाजार में स्थान नहीं रहा। कारखाने में जो लोहा जलाया जा रहा है उसके धुएँ से आदिवासी के आरोग्य पर प्रभाव पड़ रहा है। बेरोजगारी बढ़ रही है। परंपरागत व्यवसाय नष्ट हुए। भूमि के स्वामी भिखारी बन गए। विकास के नारे लगाकर यह सब किया जा रहा है। मनुष्य की बरबादी करके विकास कभी किया नहीं जाता। मनुष्य के उत्कर्ष के लिए विकास होना चाहिए। यहाँ विकास मील मालिक का है।

इन दिनों महुआ माजी का उपन्यास 'मरंग घोडा निलकंठ हुआ' काफी चर्चा में है। यह उपन्यास झारखंड के आदिवासियों के जीवन पर आधारित है। अणु ऊर्जा बनाने के लिए जो कच्चा माल (रा मटेरियल) झारखंड इलाके में मिलता है अर्थात् वहाँ की जमीन में यूरेनियम मिलता है। वहाँ यूरेनियम खोजने के लिए खदाने को दी जा रही हैं। खदाने खोजने के लिए जंगल काटे जा रहे हैं। अणुभट्ठियाँ लगाई जा रही हैं। इसका परिणाम जो होना था वह हुआ। जीवन जीने के परंपरागत साधन नष्ट हुए। शहद, गोंद, तेंदूपत्ते पर आदिवासियों की उपजीविका थी। विकास होगा, काम मिलेगा, पैसा मिलेगा आदिवासियों को कहा गया। कम कीमत पर उनकी जमीन खरीदी गई। उन्हें नौकरी का लालच दिखाया। लेकिन सबको नौकरी नहीं मिली। वे लोग बेरोजगार हुए। भयानक बात यह है कि यूरेनियम से जो विकिरण निकलती है उन्हें नष्ट

होने के लिए हजारों वर्ष लगते हैं। उन विकिरणों के परिणामों से बच्चे विकलांग जन्मते हैं। लोगों को कैंसर होता है। भोपाल हवाई दुर्घटना की मार वहाँ के लोग आज भी भोग रहे हैं। विकिरणों से स्वास्थ्य बिगड़ता है। सबसे अधिक प्रभाव गर्भ में पलने वाले बच्चे पर होता है। इस पर न शासन व्यवस्था विचार कर रही है और न देश का आरोग्य विभाग। हवा दूषित बनती है। पानी गंदा बनता है। आस-पास की जमीन बंजर बनती है। सब तबाह होता है। बचता है कारखाना। कमाया जाता है पैसा।

बाँध परियोजना निश्चित ही आवश्यक है। लेकिन बड़े बाँध नहीं। छोटे-छोटे बाँध बनाकर काम चल सकता है। लेकिन आज बड़े-बड़े बाँध बनवाकर आदिवासियों को विस्थापित किया जा रहा है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि बड़े बाँध से क्षारता अधिक बढ़ती है। यह पानी किसी का नहीं होता। उसकी बजाय अगर छोटे-छोटे बाँध बनायें तो क्षारता निर्मित नहीं होती। इससे सबके लिए पानी उपयोग में लाया जा सकता है। लोगों का विस्थापन भी नहीं होता। प्रदेश सुजलाम सुफलाम बनता है। रामनाथ शिवेंद्र का 'तीसरा रास्ता' नामक उपन्यास इसी विषय पर है। उनका कहना है कि जमीन, जंगल बचे रहेंगे तो क्षारता नहीं बढ़ेगी। छोटे बाँधों का फायदा है। बड़े बाँध बनाएंगे तो पानी अधिक है देखकर वहाँ कारखाने खोले जायेंगे। वायु और पानी प्रदूषित बनेंगे। सबसे

महत्वपूर्ण बात यह है कि आदिवासियों का विस्थापन होगा। मध्य प्रदेश के सोनपुर जनपद को केंद्र में रखकर उपन्यास लिखा गया।

पैसे के पीछे भागते, चमकीली दुनिया के निर्माण की होड़ में आदिवासियों की स्थित कीड़े मकोड़े जैसी बन गई है। इसके लिए व्यवस्था और उसकी नीति करणीभूत है। भूमंडलीकरण के परिणाम भयानक हैं। इसके लिए आंदोलन होंगे, सभाए आयोजित की जायेगी, संगोष्ठी का आयोजन किया जायेगा, लेख लिखे जायेंगे। अकेली मेधा पाटेकर, सुंदरलाल बहुगुणा बड़े बाँध और जंगल बचाने के लिए जिंदगी दाँव पर लगाकर काम कर रहे हैं निद्धित सरकार जाग नहीं रही है।

अध्याय ३.३ जल, जंगल और जमीन का संकट

आदिवासी की चिंता जल, जंगल, जमीन, भाषा और संस्कृति है जो उसके अस्तित्व का प्रश्न है। आदिवासी उपन्यासों में इन्हीं प्रश्नों को उठाया गया है। २१ वीं सदी में जो महत्वपूर्ण आदिवासी उपन्यास लिखे गए हैं उनमें मैत्रेयी पुष्पा का 'अल्मा कबूतरी', राकेश कुमार सिंह के तीन उपन्यास 'पठार का कोहरा', 'जो इतिहास में नहीं है' तथा 'हुल पहाड़ियाँ', संजीव का 'पॉव तले की दूब', रणेंद्र का 'ग्लोबल गाँव का देवता' तथा 'गायब होता देश' और महुआ माजी का 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' शामिल है।

मैत्रेयी पुष्पा का 'अल्मा कबूतरी' सन् २०००ई• में प्रकाशित उपन्यास हिंदी साहित्य जगत में काफी चर्चित रहा। बुंदेलखंड के विशिष्ट जनजाति की समस्याओं को केंद्र में रखकर लिखे इस उपन्यास में कबूतरा आदिवासी जनजाति के संपूर्ण जीवन को व्यक्त किया है। इस उपन्यास के माध्यम से मैत्रेयी पुष्पा ने स्त्री मुक्ति और दलित मुक्ति को भी मुखरित किया है। उपन्यास के दृश्य के संबंध में डॉक्टर कलासावा लिखते हैं- कथा का प्रारंभ मंसाराम और कदमबाई की कथा से शुरू होता है। जिसमें दोनों समाज का आपसी टकराव दृष्टिगत होता है। कदमबाई इस उपन्यास की प्रतिनिधि पात्र हैं। उनके पति जंगलिया को कज्जा लोग मरवा देते हैं और कदमबाई के शरीर को मंसाराम धोखे से प्राप्त करता है। उसी के परिणाम स्वरूप कदमबाई राणा को जन्म देती है। राणा को जन्म देना कज्जा से टकराने और प्रतिशोध लेने का ही प्रतिफल है। पर यहाँ भी उसकी हार होती है। इस उपन्यास में पुलिस द्वारा उनके ऊपर किये जाने वाले अत्याचार, प्रशासन का शोषण, सभ्य समाज का धिक्कार और घृणा, सभ्य समाज के प्रति कबूतराओं का रोस और बदला लेने की भावना, उनकी जीवन वृति, चोरी, छीना-झपटी, लूट, डकैती आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है।

मैत्रेयी पुष्पा ने इस उपन्यास में प्रतिकूल परिस्थितियों में संघर्ष करती आदिवासी स्त्रियों के संघर्ष को चित्रित किया

है। कबूतरा जाति को अपराधी जाति माना जाता है। किंतु उपन्यास की अन्य पात्र भूरी ने सर्वप्रथम अपने बेटे को पढ़ाकर इस कलंक से बाहर निकलने की कोशिश की है। वस्तुतः कबूतरा जाति अपना संबंध है राजस्थान मेवाड़ के प्रसिद्ध जौहर की नायिका रानी पद्मावती से जोड़ती है। अतः नारी शक्ति उनमें प्राकृतिक रूप में समायी हुई है। यही आस्था कबूतरी नारी जाति में दिखाई देती है। उपन्यास को मैत्रेयी ने राष्ट्रीय धारा से जोड़ने की कोशिश की है। जिसमें कबूतरा जनजाति के पुनर्निर्माण के लिए राजनीतिक प्रवेश ही समाधान बताया गया है।

आदिवासी उपन्यासकारों में दूसरा महत्वपूर्ण नाम राकेश कुमार सिंह का आता है। विगत दस वर्षों में आदिवासी जीवन से जुड़े तीन उपन्यासों की उन्होंने रचना की। २००३ में प्रकाशित 'पठार का कोहरा' उपन्यास झारखंड के गजली ठोरी नामक ग्राम के मुंडा जन-जीवन पर लिखा एक सशक्त उपन्यास है। भारत की आजादी के बाद आदिवासी जनजीवन पर प्रकाश डालता यह उपन्यास नयीं शोषक संस्कृति और को व्यक्त करता है, जो साहू, बाबू, और बंदूक की संस्कृति हैं। बंधुआ प्रथा पर आधारित इस उपन्यास में लेखक ने आदिवासी जनजीवन पर भी लेखनी चलायी है। साहू, बेचू तिवारी और जंगल सेना जैसे भूमिगत आंदोलन उसी की उपज है।

'पठार का कोहरा' का नायक संजीव है जो बेहद आक्रामक है। सरकार की शिक्षा नीति का पर्दाफाश भी उक्त उपन्यास करता है। गजली ठोरी में आदिवासियों के लिए प्राथमिक विद्यालय हैं किंतु यह सिर्फ कागज पर ही है। सभी योजनाएँ गजली ठोरी पहुंँचती हैं पर केवल कागजात के माध्यम से। यह सब भ्रष्टाचार केवल स्कूली अध्यापकों का या शिक्षा विभाग के कर्मचारियों का ही नहीं पूरी ब्यूरोक्रेसी का है। जिसे राकेश कुमार सिंह ने 'पठार का कोहरा' के माध्यम से उजागर किया है।

राकेश कुमार सिंह का दूसरा आदिवासी जीवन को केंद्रित कर लिखा गया उपन्यास 'जो इतिहास में नहीं है' है। इसका प्रकाशन २००५ में हुआ झारखंड की संथाल जनजाति का मानो इसमें इतिहास ही लिखा गया हो। १८५७ ई॰ के पूर्व का आदिवासी हूल आंदोलन की पृष्ठभूमि पर लिखा यह उपन्यास उन आदिवासी शहीदों की याद दिलाता है जिसे हमारा इतिहास पूरी तरह भूल चुका है। उपन्यास की कथा नायक हारिल मुर्मू और उराव युवती लाली के बनैले प्रेम के ताने बाने से जुड़ी है। ब्रिटिश कंपनी सरकार के दमन, अत्याचारी नीति का संथाल आदिवासियों पर किया गया अत्याचार, भ्रष्ट दरोगा जैभवान पांडे का जूल्म नवनिर्माण रेल परियोजना में जंगलों को खत्म करना, आदिवासियों की बहू बेटियाँ, पत्नियाँ, नातिनों को अधिकारियों द्वारा हवस

का शिकार बनाकर छोड़ देना, अभ्रक का खान की खुदाई के लिए गरीब मासूम संथालो की जमीन, घर पर कब्जा करना आदि जैसी घटनाओं का मर्मस्पर्शी चित्रण उपन्यास की वस्तु को खड़ा करता है। परिणाम स्वरुप अपने पर होते अत्याचारों के विरोध में तीर, कमान, वाण के सहारे कभी सफल तो कभी असफल हूल आंदोलन की गरिमा उपन्यास की मूल संवेदना को दर्शाती है। इस आंदोलन में हजारों आदिवासियों की बलि चढ़ जाती है। उनके शौर्य की गाथा और शहीदों का मर्सिया यह उपन्यास है, जिसे भारतीय इतिहासकारों ने भुला दिया है और इसे ही राकेश कुमार सिंह का उपन्यास 'जो इतिहास में नहीं है' व्यक्त करता है।

राकेश कुमार सिंह का तीसरा उपन्यास 'हूल पहाड़िया' २०१२ ई॰ प्रकाशित हुआ। यह पहाड़िया जनजाति के विद्रोही बाग तिलका माँझी की समर गाथा को ऐतिहासिक तत्वों के साथ प्रस्तुत करता है। साथ ही आदिवासी जनजातियों के अपने-अपने मुखियों के साथ लड़े गए स्वतंत्रता संग्राम को भी व्यक्त करता है।

'हूल पहाडिया' उपन्यास का आरंभ राजमहल पहाड़ी पर लगे एक पहाड़ियाँ गाँव का नया माँझी (मुखिया) चुनने की घटना से होता है। नये माँझी की क्षमता को जांचने के लिए उसे कई परीक्षाओं से गुजरना पड़ता है। ये परीक्षाए नाम मात्र नहीं होती। इसी प्रक्रिया में जबरा पहाड़िया उर्फ तिलक माँझी उर्फ तिलका बाबा नामक

वीर उभर कर सामने आता है। यही उपन्यास का मुख्य पात्र है। अन्य पात्रों में फागुन, कुंजरा, तेतर, चादों, करमा, कार्तिक आदि आदिवासी पात्रों के साथ कंपनी अधिकारियों के रूप में जेम्स ब्राउन, कलीवलैंड, मिटफोर्ड, हीलर, आदि हैं। उपन्यासकार ने दो नारियों को भी प्रमुख नारी पात्र के रूप में चित्रित किया है। जिसमें तिलका माँझी की पत्नी रुपनी और सुल्तानाबाद की रानी सर्वेश्वरी है। जो रानी होकर भी गुप्त रूप से आदिवासी आंदोलन की मदद करती है। पूरा उपन्यास पहाड़िया जनजाति के दुख दर्द, संघर्ष, मनःउत्सव, त्यौहार के साथ भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में आदिवासी जनजाति के सहयोग को दर्शाता है।

२१वीं सदी के आदिवासियों का उपन्यासकारों में संजीव बेहद महत्वपूर्ण उपन्यासकार हैं। उनका २००५ ई॰ में 'पॉव तले के दूब' उपन्यास प्रकाशित हुआ। कालीचरण किस्सू और शीला को उपन्यास के पात्र के रूप में वर्णित किया गया है। उपन्यास का क्षेत्र मेझिया गाँव है। जहाँ का परिवर्तन संजीव अपने उपन्यास के पात्रों के माध्यम से कराते हैं।

कथाकार रणेंन्द्र का उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' सन् २००९ ई॰ में प्रकाशित हुआ। प्रकाशन के साथ ही उपन्यास ने बहुत वाहवाही बटोरी क्योंकि उपन्यासकार की नवनवीन कल्पनायें और नई लेखन शैली इसे नए आयाम तक पहुँचाती है। उपन्यास में कथाकार

ने सुर-असुर संघर्ष को दर्शाया है। देवराज इंद्र से लेकर ग्लोबल गाँव के आधुनिक व्यापारियों तक फैली शोषण की प्रक्रिया को उपन्यासकार रणेन्द्र व्यक्त करने में सफल हुए हैं। असुरों की छिन्न-भिन्न संस्कृति की संघर्षमय गाथा को उपन्यास का कथ्य बनाया गया है।

रणेन्द्र अपने इस उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' में भूमंडलीकरण के कारण आदिवासी जनजाति के जीवन में होने वाले परिवर्तन को दर्शाते हैं। जमीन, जंगल और जल ही आदिवासी जनजाति की संपत्ति है। अपने आपको आदमी समझने वाले तथाकथित पढ़े-लिखे सुशिक्षित समाज की वक्र दृष्टि आदिवासियों के जल, जमीन और जंगल की तरफ पड़ी है। परिणाम स्वरूप उसकी भाषा संस्कृति और परंपरागत धार्मिक आस्था खतरे में पड़ गई है। इसकी आहट उसे पहले से ही हो गई थी किंतु सरकार की प्रलोभनकारी वृत्ति और लालची एवं स्वार्थी समाज ने उसे कल्याणकारी सपने दिखाकर उससे जल, जमीन, जंगल भी छीन लिए हैं। आज के ग्लोबेल गाँव की संकल्पना ने उसकी कमर तोड़ दी है। उनकी स्त्रियाँ अब न आजाद हैं और न ही सुरक्षित है। आधुनिकता के सपने ने उसे वेश्यालय तक पहुँचा दिया।

'ग्लोबल गाँव का देवता' में रणेन्द्र इस रचना के माध्यम से प्रश्न उठाते हैं कि सरकार आदिवासियों को राष्ट्र की मुख्यधारा में लाने के लिए योजनाए बना रही है उसे अमल में भी लाया जा रहा है।

किंतु इससे मूलनिवासी आदिवासियों की संस्कृति और मूल्य बचे रहेंगे? इसे ही उपन्यासकार यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

रणेन्द्र का दूसरा महत्वपूर्ण उपन्यास 'गायब होता देश' जो सन् २०१४ ई॰ में प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास को ५१ अध्यायों में विभाजित किया गया है, जिसमें झारखंड के मुंडा आदिवासियों को केंद्र में रखा गया है। पिछले उपन्यास के समान यह उपन्यास भी बाजारीकरण के प्रभाव को दर्शाता है। आदिवासी समाज पर पहले चमड़ी के नाम पर अंग्रेजों ने जुल्म किये अब हम भारतीय सरकारी नीति के नाम पर कर रहे हैं। विकास के नाम पर उनके जल, जमीन, जंगल छीने जा रहे हैं। विरोध करने पर उन्हें नक्सली कहकर मारा जा रहा है। उपन्यास के मुख्य पात्रों में सोमेश्वर पहान, नीरजपहान, सोनामनीदी, अनुजापहान आदि हैं। उपन्यासकार ने पूँजीवादी व्यवस्था को आदिवासी जनजाति पर हावी होता दिखाकर आदिवासी अपनी संस्कृति, भाषा एवं सभ्यता को खोते जा रहे है को दिखाया है।

इसके साथ ही एक और उपन्यास का जिक्र करना जरूरी है। महुआ माजी का 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ'। उपन्यास की मुख्य समस्या विस्थापन, प्रदूषण, विकिरण पुनर्वास आज की है जमशेदपुर से ३०-४० किलोमीटर दूर जादूगोड़ा नामक गाँव को कथानक का मुख्य क्षेत्र बनाया गया । जहाँ १९६७ ई॰ में यूरेनियम धातु के लिए

खनन आरंभ हुआ। आसपास के १५ गाँवों के तीन हजार से अधिक लोगों को वहाँ की रेडियोधर्मी यूरेनियम धातु के परिणाम का शिकार होना पड़ा। यूरेनियम और लौह खदानों से निकलने वाली वायु से उत्पन्न हो रही समस्याओं से जूझते आदिवासी जनजातियों का चित्रण 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' में किया गया है।

'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' में महुआ माजी ने बहुत बेबाकी के साथ रेडिएशन के खतरे का विवरण अपने इस उपन्यास में किया है। उपन्यास का आरंभ जाम्बिरा से होता है। जाम्बिरा की पीढ़ी के लोग जंगल और प्रकृति के साथ अपना जीवन जी रहे थे किन्तु नव-नवीन खोजों और वैश्वीकरण ने उन्हें उनके घर से बाहर निकाल दिया। उनका जंगल और जमीन छीन ली गयी, जल को दूषित कर दिया गया। नयी-नयी बीमारियों ने उनके जीवन में आगमन किया। भोले-भाले आदिवासी स्वार्थी सत्तालोलुप और धनपिपासु लोगों के संपर्क में आकर अपने अस्तित्व को भूल गये। यूरेनियम और इसी तरह की धातुओं के विषैले जहर ने उन्हें उनका ही नहीं संपूर्ण मानव जाति को विनाश की कगार पर पहुँचा दिया है।

महुआ माजी एक सशक्त कथाकार है अपने उपन्यास 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' में उन्होंने अनेक समस्याओं का उद्घाटन किया हैं। नारी समस्या, दहेज प्रथा, यूरेनियम और लोहे के खदान के परिणाम,

जहरीले पानी की समस्या, उससे उत्पन्न अलग-अलग बीमारियों की समस्याओं को इस उपन्यास में उन्होंने व्यक्त किया है। आदिवासी जनजाति में डायन जैसी उग्र समस्या को व्यक्त करने में भी वे नहीं हिचकिचाती।

अंततः उपरोक्त सभी उपन्यास २१वीं सदी की आदिवासी जनजाति में उत्पन्न हुई विभिन्न समस्याओं को दर्शाते हैं। इन उपन्यासों की सबसे अच्छी बात यह है कि ये सभी उपन्यास केवल कल्पना के सहारे नहीं लिखे गये बल्कि इनमें यथार्थ का चित्रण कुछ अधिक हुआ है। कुछेक उपन्यास तो ऐतिहासिक तथ्यों के साथ आदिवासी जनजीवन को व्यक्त करते हैं। इन सभी उपन्यासों ने आज के पाठक वर्ग को न केवल आकर्षित किया है बल्कि सरकार को भी अपनी ओर आकृष्ट किया है यह कोई नहीं जानता की भूमंडलीकरण की इस आग में न जाने कितनी जनजातियाँ, संस्कृतियाँ, भाषाएँ, धार्मिक आस्थाएँ, चूर-चूर होकर बिखर जायेगी, किंतु इसे हमें सहन करना ही होगा और अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए संघर्षरत ही रहना होगा।

३.४ आदिवासी समाज में नारी

सूचना और प्रौद्योगिकी के युग में हम आधुनिक से उत्तर आधुनिक होते जा रहे हैं। पूँजीवाद ने मनुष्यता की मर्यादाओं को तोड़कर मनुष्य की भावात्मक आत्मीयता को नष्ट किया है। मनुष्य भौतिक उन्नति के के लिए अर्थ का दास बनकर उसके पीछे दौड़ रहा है। दुनिया की तेज रफ्तार में वह अपने समाज में व्याप्त विषमता, पीड़ा, दुख, दर्द, दरिद्रता, साधनहीनता को भूल चुका है। जिससे भारतीय समाज की पहचान एक विकासशील समाज न होकर एक विकलांग समाज हो गई है। देश के दलित, स्त्री और आदिवासी अविश्वास, घृणा, उपेक्षा तथा अपमान जैसी यातनाओं को झेलते हुए अपनी विकलांगता को नष्ट करना चाहते हैं। इन्हीं प्रश्नों से जुड़ा दलित साहित्य, स्त्रीवादी साहित्य और आदिवासी साहित्य मनुष्य के पक्ष में प्रतिपक्ष की भूमिका निभा रहा है।

आदिवासी भारत के मूल निवासी हैं। ये आरंभ से ही दूरस्थ एवं निर्जन स्थानों पर निवास करते हैं, परिणाम स्वरूप आदिवासियों पर शहरी सभ्यता एवं विकास का बहुत कम प्रभाव पड़ा है। इसी कारण इनकी सदैव ही अपनी अलग एवं विशिष्ट पहचान बनी रही है। आज भी दूरस्थ स्थानों पर आदिवासियों को सैकड़ों वर्ष पूर्व की सभ्यता में जीवन यापन करते हुए देखा जा सकता है। दूरस्थ क्षेत्रों में निवास करने तथा आवागमन के साधनों का अभाव होने के कारण आज भी शहरी सभ्यता से कटे हुए हैं। इस प्रकार आदिवासी आरंभ से ही

उपेक्षित एवं शोषित रहे हैं। अलग-अलग रहने के कारण प्रशासन का ध्यान भी इनके विकास की ओर आकृष्ट नहीं हुआ। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात जब से केंद्र सरकार ने इनकी परिस्थितियों की ओर विशेष ध्यान देना शुरू किया तब से राज्य सरकार एवं अन्य संस्थाएँ इनके विकास एवं समाजीकरण के लिए जागरूक हुई एवं इन्हें मुख्यधारा से जोड़ने के लिए प्रयत्न किया जाने लगा, ताकि आदिवासी देश की मुख्यधारा से जुड़कर अपनी प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर को भी सुरक्षित रख सकें।

प्राचीन समय में भी आदिवासियों की अपनी विशिष्ट प्रशासनिक व्यवस्था थी, जिसका अपना विशेष महत्व था। ये अपने कर्तव्यों व अधिकारों को जानते थे एक पूर्व आदिवासी आधुनिक प्रशासनिक व्यवस्था से अनभिज्ञ थे, परंतु देश के आदिवासी क्षेत्रों में इनकी अपनी सुदृढ़ प्रशासनिक व्यवस्था (कबीला व्यवस्था) थी। कबीले के मुखिया का पद वंशानुगत होता था तथा कबीले के सरदार का कबीले के सभी लोग बहुत आदर करते थे एवं उसके आदेशों का पालन करते थे। देश के स्वतंत्रता संग्राम में आदिवासियों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। देश में संविधान लागू होने के पश्चात ही उपेक्षित एवं मुख्य धारा से कटे हुए आदिवासियों के विकास की ओर पूर्ण ध्यान दिया गया तथा संविधान में इनके लिए विशेष प्रावधान कर सुरक्षात्मक उपाय किये गये। इस प्रकार इन्हें कानूनी संरक्षण प्रदान करते हुए देश की मुख्यधारा से

जोड़ने का प्रयास किया गया। परिणाम स्वरूप प्रमुख जनजातियों के समूहों को उनकी स्थिति के अनुसार राज्यवार अनुसूचित घोषित किया गया, जिसे अंततः अनुसूचित जनजाति कहा जाने लगा।

नारी समाज का एक अंग है। कोई भी समाज नारी के विभिन्न रूपों से अछूता नहीं रह सकता। उसका अपना अस्तित्व है, अहं भावना है जिसे व्यवस्था ने दबाया है। भार्या का अर्थ है भरण पोषण करने वाली। किंतु बड़े दुख की बात है कि नारी का परिवार में दोयम स्थान है। उसे युग-युग से पुरुषों के अधीन रहना पड़ा है। आर्थिक दृष्टि से परावलंबी होने के कारण वह अपने परिवार का त्याग नहीं कर सकती है। स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात भारतीय समाज में मानव मूल्यों का विघटन बहुत तीव्र गति से हुआ है। "समाज में धन-संपत्ति का महत्व बढ़ता गया। भौतिक सुखों को किसी भी कीमत पर खरीदने के लिए मनुष्य, मानवीय मूल्यों की उपेक्षा करने लगा। यहीं से उसका पतन प्रारंभ हुआ। इस प्रवृति के कारण नारी पर परिवार में दहेज के नाम पर अत्याचार किया जा रहा है। आये दिन समाचार पत्रों में ऐसी घटनायें पढ़ने में आती हैं। नारी का परिवार में एक भोग की वस्तु के रूप में स्थान देखा गया है।"

भारतीय समाज में सभी युगों में स्त्रियों की स्थिति एक जैसी नहीं रही। एक काल में भी समाज के विभिन्न स्तरो में स्त्रियों

की स्थिति और कार्यों में बहुत अंतर पाया जाता है। आज भी कुछ जातियों की स्त्रियाँ निम्न जातियों की स्त्रियों की अपेक्षा आर्थिक रूप से अधिक आत्मनिर्भर तथा सामाजिक क्षेत्र में बहुधा अधिक स्वतंत्र दिखाई देती हैं। अधिकतर आदिवासी समाज में भी स्त्रियों का जीवन अपेक्षाकृत रूप से स्वतंत्र प्रतीत होता है।

आदिवासी समाज भी अज्ञान और अशिक्षा के कारण अपनी रुढि परंपरा के चंगुल से बाहर नहीं आ पाया है। ऐसे समाज में नारी की क्या स्थिति हो सकती है। इसे आदिवासी की कुछ जातियों द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

"गरासिया' राजस्थान की प्रमुख आदिवासी जातियों में से एक है। हिंदू समाज के समान ही इस आदिवासी समाज में भी महिलाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। परिवार में स्त्री को पूर्ण सम्मान दिया जाता है। लड़की का विवाह माता-पिता द्वारा वधू मूल्य लेकर करने की प्रथा है। इस समुदाय में प्रेम विवाह करने का अधिक प्रचलन है जिसके कारण स्त्री को विवाह की स्वतंत्रता प्राप्त है। स्त्री को घर एवं खेतों पर तथा मजदूरी आदि का कार्य भी करना पड़ता है। गरासिया महिलाएँ बहुत परिश्रमी होती हैं एवं पुरुष कम परिश्रम करना पसंद करते हैं। इस प्रकार महिलाएँ परिवार को पूर्ण आर्थिक संबल प्रदान करती है एवं वधू-मूल्य से भी सहायता मिलती है।" अतः गरासियों में महिलाओं की स्थिति काफी

अच्छी व सम्मानजनक है। इन्हें परिवार व समाज में शोषण का शिकार नहीं होना पड़ता, परंतु इन्हें कठोर परिश्रम करना पड़ता है।

'डामोर' जनजाति के आदिवासी लोग मूलतः गुजरात राज्य के निवासी है। 'डामोर' समाज में नारी का सम्मान किया जाता है, परंतु इन्हें अपना जीवनसाथी चुनने की स्वतंत्रता नहीं है। विवाह का मुख्य आधार वधू-मूल्य होता है। दूसरे शब्दों में लड़की को बेचा जाना कहा जा सकता है। क्योंकि अधिक मूल्य देने वाले से ही विवाह किया जाता है। महिलाएँ घर का समस्त कार्य करती हैं। इसके साथ इन्हें कृषि व मजदूरी का कार्य भी करना पड़ता है। डामोर समाज में वधू को अत्याचार सहन नहीं करना पड़ता है, इसमें वधू-मूल्य मुख्यतया सुरक्षा कवच का कार्य करता है। इस प्रकार कुछ बंधनों के उपरांत भी डामोर महिलाओं की स्थिति को अच्छी व सम्मानजनक माना जा सकता हैं।

'भील' भारत की आदिवासी जातियों में से एक प्रमुख जाति है। भील समाज में महिलाओं की विशिष्ट भूमिका होती है तथा समाज व परिवार में इन्हें पूर्ण सम्मान प्रदान किया जाता है। नारियों को पति की अर्धांगिनी माना जाता है एवं वे विशेष अवसरों पर पुरुषों के साथ सहयोग करती हैं। इतना ही नहीं भील महिलाएँ आर्थिक रूप से पुरुषों का कंधों से कंधा मिलाकर सहयोग करती हैं। घर के कार्यों

के अतिरिक्त, खेती व मजदूरी के कार्यों में पिता एवं घर के सदस्यों को सहयोग प्रदान करती हैं।

भील महिला को उर्वरता का प्रतीक मानते हैं। इनकी यह मान्यता है, सच्चाई कौन जाने की अविवाहित लड़की अग्नि के समान पवित्र है। खेत में फसल पकने पर कच्चा धान सबसे पहले लड़की को दिया जाता है। यह समझा जाता है कि इससे फसल की उर्वरता बढ़ती हैं।

"परिवार में नारी का माँ के रूप में बहुत सम्मान किया जाता है। भील समाज में शिक्षा का अभाव है परंतु स्त्री-शिक्षा का नितांत अभाव है। भील अपनी लड़कियों को पढ़ाना पसंद नहीं करते हैं। परंतु आजकल शहरी प्रभाव के कारण कुछ समझदार भील अपनी लड़कियों को शिक्षा देने के प्रयास में है।"

इस प्रकार भील समाज एवं परिवार में हिंदू समाज की अपेक्षा नारी को अधिक स्वतंत्रता प्राप्त है। उनकी सामाजिक स्थिति काफी बेहतर है एवं उन्हें शोषण का शिकार बहुत कम होना पड़ता है। महिलाओं पर किसी भी प्रकार का अत्याचार नहीं किया जाता है तथा उन्हें अपना जीवन अपनी इच्छा अनुसार स्वतंत्रतापूर्वक जीने का अधिकार प्राप्त है।

"आदिवासी जनजातियों में मीणा राजस्थान की प्रमुख जनजाति है। मीणा समाज में भी नारी को पूर्ण सम्मान प्रदान किया जाता है परंतु भील व अन्य आदिवासी समुदायों के समान इनको स्वतंत्रता प्राप्त नहीं है। मीणा समाज में लड़की का विवाह माता-पिता द्वारा निर्धारित किया जाता है। इसमें लड़की की सहमति नहीं ली जाती है। परिवार में मीणा महिला को घर के समस्त कार्य एवं घर से बाहर कृषि कार्यों में भी सहयोग देना पड़ता है। मीणा परिवार की आर्थिक स्थिति अच्छी होने के कारण महिलाओं को मजदूरी आदि कार्य नहीं करने पड़ते।"

आजकल मीणा समाज में नारी को शिक्षित करने का प्रचलन है, जिससे इनकी शैक्षणिक स्थिति में सुधार हो रहा है तथा इनमें जागरूकता बढ़ रही है।

संपूर्ण विश्व में नारी स्वतंत्रता और अस्मिता का सवाल आज के सबसे ज्वलंत सवालों में से एक हो गया है। पुरानी मान्यताओं, सत्ताओं का विभाजन और आधुनिकतावाद के विकास के साथ इस सवाल को अपनी तरफ से मौलिकता प्रदान हुई है। महिलाएँ सर्वहारा के तौर पर रेखांकित की गई है और उन्हें अपनी पारिवारिक, सांस्कृतिक, आर्थिक तथा सामाजिक गुलामी की जंजीर को उतार फेंकने का अधिकार है। किंतु यह आसान काम नहीं है।

स्त्री का संघर्ष सभ्यता की पहली और अंतिम कहानी है। जब हम आदिवासी स्त्री की बात करते है तो मार्क्स का कथन याद आता है कि- "स्त्रियों की सामाजिक स्थिति से सामाजिक प्रगति और ठीक-ठाक मापा जा सकता है।" आज जब हम भूमंडलीकरण के युग में इस देश के मूल निवासी की स्थिति अंकन करते है तो पाते है कि वह युगों से जिस स्थित में था आज भी वैसा ही उपेक्षित, वंचित और अभावग्रस्त जीवन जीने के लिए मजबूर है। आदिवासी स्त्री की स्थिति तो पंखयुक्त किंतु पंखहीन पक्षी की भाँति है। उनका जीवन आज भी एक विवश आत्मसमर्पण है। चूँकि और समाज का अटूट संबंध है। आदिवासी स्त्री की दुर्दशा और शोषित अवस्था का चित्रण साहित्य के माध्यम से समाज के समक्ष लाने का कार्य आज हमारे जागरूक साहित्यकारों की कलम से हो रहा है। ताकि आदिवासी समाज में अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ती स्त्री की सच्चाई समाज के समक्ष आ सके।

जंगलों में बसी निरक्षर आदिवासी स्त्री कभी विस्थापन की त्रासदी सहती है तो कभी पूँजीपति, ठेकेदार और अपने समाज की कुप्रथाएँ उसका दोहन करती है। जंगल के ठेकेदार इन औरतों का शोषण करते हैं। साहित्य में आदिवासी स्त्री के शोषण, संघर्ष, स्त्री, प्रताड़ना, मुक्ति की बेचैनी का सच्चा दस्तावेज दिखलाई देता है। सर्वप्रथम १९५२ई॰ में वृंदावन लाल वर्मा के ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखे उपन्यास

'कचनार' की हम चर्चा करें जिसमें गोंड स्त्री कचनार सतत संघर्ष तथा अपने सतीत्व की रक्षा कर नारी के अपूर्व साहस तथा शक्ति का परिचय देती है। सन् १९५७ई• में रांगेय राघव का उपन्यास 'कब तक पुकारु' प्रकाशित हुआ। नट समाज पर आधारित इस उपन्यास में राजस्थान और ब्रज प्रदेश की सीमा पर बसे गाँव 'बैर' प्रदेश के आदिवासी जीवन का चित्रण है। नटों को पुलिस अत्याचार से बचाने और कैद से छुडाने की कीमत नटनियों को अपने तन से चुकानी पड़ती है। स्त्रियों का जीवन विवशताओं और विडंबनाओ से भरा है। प्यारी कजरी और चंदा जैसे स्त्री पात्रों का अंत इस उपन्यास का हिस्सा है। इस उपन्यास में सुखराम अपनी और महिलाओं की सामाजिक स्थिति पर आत्ममंथन करते हुए कहता है- "हमारे पास जमीन नहीं, कुछ नहीं। आसमान के नीचे सोते है, धरती हमारी माता है। हम घास की तरह पैदा होते हैं। रौदे जाते है। हमारी औरतों को पुलिस के सिपाही दूब समझ कर चर जाते हैं। और हमारे पास क्या है? कुछ नहीं।" और करनट आदिवासी औरतें जानती है कि दरोगा के बुलावे को स्वीकार न करने का नतीजा क्या हो सकता है। प्यारी और सोनौ की बातचीत इस बात को स्पष्ट करती है- "औरत का काम औरत का काम है। उसमें बुरा-भला क्या? कौन नहीं करती? नहीं तो मार-मार कर खाल उधेड़ देगा दरोगा और तेरे बाप और खमस दोनों को जेल भेज देगा। फिर कमेरा मन न रहेगा तो क्या करेगी? फिर भी पेट भरने को यहीं करना होगा।"

राजेंद्र अवस्थी की 'सूरज किरण की छाँव' १९५८ई॰ में प्रकाशित उपन्यास है। इस उपन्यास में चित्रकूट के आस-पास के आदिवासी क्षेत्र का चित्रण है जो जंगली आदिवासी युवती बंजारी के जीवन की दास्तान कहता है। प्रेमजाल में फँसी बंजारी को पंचायत से वहिष्कृत कर दिया जाता है और पंचायत के फैसले पर उस युवक से उसका विवाह किया जाता है जो विवाह के पश्चात पाँच सौ रुपये में उसे बेच देता है। जिंदगी जीने की विवशता है कि उसे अपनी मर्जी के खिलाफ वेश्या व्यवसाय करना पड़ता है। समाज से निर्वासित बंजारी अंत में फिर किसी स्त्री को उसकी तरह नारकीय जीवन नहीं जीना पड़े इस हेतु गाँव चली जाती है। और वहाँ लोगों की सेवा करती है। एक हाथ से दूसरे हाथ बिकती बंजारी समाज के घिनौने बर्ताव से टूट जाती है। स्त्री के प्रति किये जाने वाले व्यवहार से दुखी होकर वह कहती है- "क्या औरत की जिंदगी में इसके सिवाय कुछ और नहीं है? यदि नहीं है तो दुनिया में औरत होना सबसे बड़ा पाप है। आदमी को जन्म के साथ ही उसका गला घोट देना चाहिए इसके सिवाय उसके सामने चारा नहीं है। जब आदमी उसे जीने नहीं देना चाहता तो उसे धूएँ में घुटने और तड़पने देने का उसे अधिकार नहीं है------ क्या औरत आदमी की धरोहर है।" पुरुष सत्तात्मक समाज में स्त्री को विभिन्न नामों से अलंकृत किया गया है। किंतु शब्दों के द्वारा दिया गया यह सम्मान उसे सच्चे मायने में कभी नहीं मिलता। इस उपन्यास के संदर्भ की ये पंक्तियाँ इस सच्चाई को स्पष्ट करती हैं कि

"ईशू ने जिसे सबसे खूबसूरत चिराग कहा है, मुसलमानों ने जिसे खुदा का नूर नाम दिया है और हिंदुओं ने जिसे साक्षात देवी और लक्ष्मी माना है, वह वास्तव में पाप की गठरी के सिवाय कुछ नहीं है। जैसे बालक को खिलौना दे कर भरमा दिया जाता है, पुरुषों ने इन नामों के मायाजाल में औरत को मक्खी की तरह फँसाकर रखा है।"

'जंगल के फूल' राजेंद्र अवस्थी का बस्तर के आदिवासियों को केंद्र में रखकर लिखा गया उपन्यास है जिसमें महुआ के देश-प्रेम, स्त्रियों की सेना संगठित करना, आदिवासियों की संस्कृति, रीति-रिवाजों, आदिवासियों के विद्रोह, आदिवासी संस्कृति में 'घोटूल' आदि पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। 'जंगल के फूल' उपन्यास में गोंड नारी की सामाजिक स्थिति के संदर्भ में अवस्थी जी लिखते हैं कि "औरत की जात, वह तो कच्ची माटी की हंडी। जिसे जो निशान उस पर बनाना हो, बना दे।" झलिया झालर सिंह कहती है- "तो यह कहो कि तुम मर्दों ने उसके मन को दीमक की तरह खा डाला है। लिंगों की दुनिया में औरत-मरद का भेद नहीं रे, झालर। भेदभाव की ये दीवारें तुम्हारी बनाई है। तुम हाथ में डुग-डुगी लेकर बंदर की तरह औरतों को नचाते हो।" साथ ही राजेंद्र अवस्थी के 'जाने कितने आँखे' उपन्यास में भी सुवेगा और कमलापति के प्रेम की दास्तान को अभिव्यक्ति प्रदान की है। इस उपन्यास में सुवेगा की पीड़ा पाठकों की पीड़ा बन जाती है। चूंकि प्राचीन जड़ मूल्यों, जातिवाद,

नैतिकता और सामाजिक नियंत्रण को वह सहती है। शानी के 'साँप और सीढ़ी' में भी बस्तर के ग्रामीणों का संघर्षमय जीवन है। हल्बा जाति की एक आदिवासी बाल विधवा चंपा धान बेचते-बेचते धानबाई से धान माँ बन जाती है। उसी चाय की होटल उसकी जीविका है। किंतु ग्रामीण विकास के नाम पर लूभावनी औद्योगिक योजनाएँ किस तरह लोगों की रोजी-रोटी छीन लेती है और धान माँ भी उसका शिकार हो जाती हैं।

'अरण्य' कुमांचल के आदिवासियों तथा अनाथ कावेरी की खामोश जिंदगी की कथा है। जिसकी शादी बूढ़े ठेकेदार से की जाती है। वही 'पिंजरे की पन्ना' नारी शोषण को चित्रित करता मणि मधुकर का लघु उपन्यास है। जिसमें 'गडुलिया लुहार' आदिवासी जाति जो कि राजस्थान के रेगिस्तानी इलाकों में यायावरी जीवन जीती है, को केंद्र में रखकर लिखा गया है। सुरेश चंद्र श्रीवास्तव के 'वनतरी' उपन्यास में वनतरी नायिका आदिवासी जीवन संघर्ष की नायिका बनकर विद्रोह कर देती है। वह अपनी जाति पर हो रहे अन्याय और शोषण का डटकर विरोध करती है। उसी तरह संजीव के उपन्यास 'धार' की मैना है। इस उपन्यास में बिहार के संथाल परगना में कोयले की खदानों पर आदिवासियों के जीवन का चित्रण है। इस उपन्यास में जेलर साहब का मैना पर बलात्कार करना और फिर अपने पशु तुल्य व्यवहार के कारण जब मैना को बच्चा पैदा होता है तो मंगर जो जेल में सजा भुगत रहा है

उसे मार-मार के जेलर कबूल करवाता है कि उसने जेल में किसी औरत के साथ बलात्कार किया है। इस घटना को संजीव ने उपन्यास में उकेरा है। पूँजीपति महेंद्रबाबू, ठेकेदार, माफिया, पुलिस अधिकारी और दोषपूर्ण व्यवस्था से भी मैना लड़ती है। साहसी आत्मविश्वासी मैना लोगों की क्रूरता का शिकार बनती है।

'डूब' एवं 'पार' वीरेंद्र जैन के उपन्यास है। 'पार' में चित्रित गुनिया माई का चुनाव स्त्री को प्रतिबंधित करने की समस्या पर प्रकाश डालता है। 'पार' में चित्रित स्त्री की हालत दर्दनाक है। एक अघोषित ग्राम वधू की पदवी निचली जातियों की औरतों को दे दी जाती है। और उसका उपभोग करना सवर्ण अपना अधिकार मानते हैं। गोराबाई लुहारिन है और इस व्यवस्था का शिकार है। मैत्रेयी पुष्पा के 'अल्मा कबूतरी' में कदमबाई की व्यथा इस बात की द्योतक है कि कबूतरा जाति में स्त्री की स्थिति कितनी कारुण्य है। उपन्यास के संदर्भ में मैत्रेयी लिखती है- "कबूतरा पुरुष या तो जंगल में रहता है या जेल में------ स्त्रियाँ शराब की भट्ठियों पर या हमारे बिस्तरों पर।"

'मरंग गोड़ा निलकंठ हुआ' उपन्यास में महुआ माजी ने रेडियोधर्मी विकिरण के दुष्प्रभाव पर प्रकाश डाला है। यूरेनियम खनन मरंग गोड़ा के आदिवासी विस्थापित होने के लिए मजबूर हो जाते हैं। सगेन समाज सेवा के क्षेत्र में सक्रिय युवक है किंतु आदिवासी इलाकों में

आज भी अंधविश्वास अपना घर किये हुए हैं। गाँव में फैलती बीमारियों का कारण खदाने हैं। जिनके यूरेनियम खनन का प्रभाव गाँव के वातावरण पर पड़ता है। किंतु गाँव के लोग सगेन की ताई को डायन घोषित करते हैं। "हद तो तब हो गई जब सगेन की ताई को डायन घोषित करके होने वाली मौतों के लिए उसे जिम्मेदार ठहरा दिया गया और एक दिन जब वह बाजार से लौट रही थी तो पड़ोस के कुछ लोगों ने उसे पकड़ लिया। उन्होंने उसका सिर मुड़ाकर जबरन मल खिलाया।"२

'सागर की लहरें और मनुष्य' उदय शंकर भट्ट का एक चर्चित उपन्यास है। मछुआरों में 'कोली' समाज के आंतरिक जीवन का यथार्थ चित्रण इस उपन्यास में किया गया है। मणि अपनी गूगी पत्नी दूर्गा पर अत्याचार करता है और जब वह मर जाती है तो एक मछुआरिन की बेटी रत्ना को वैभव दिखाकर फँसा लेता है। शराब पीना और रत्ना को पीटना उसकी दिनचर्या है।

विनोद कुमार के 'समर शेष है' उपन्यास को झारखंड के आदिवासियों के बारे में लिखी गई सबसे श्रेष्ठ कृति कहा जा सकता है। उपन्यास में महाजनी शोषण के विरुद्ध संघर्ष की शुरुआत शिबू सोरेन के पिता सोबरन माझी करते हैं। जब गाँव की एक आदिवासी औरत रूपा अपने पति की मृत्यु के मौके पर महाजन विष्टु साव से दो मन धान लेती है और दो वर्ष तक लौटा नहीं पाती। अपने लठैत के बल

पर विष्टु साव रूपा का सारा धन रखवाकर बैलगाड़ी ले जाना चाहता है और रूपा के विरोध करने पर उसका हाथ पकड़ लेता है। इतना ही नहीं वह बाद में रूप को एक ढोंगी बाबा के सहारे डायन घोषित करवाकर उसकी हत्या करवा देता है।

आदिवासियों का जमीनी राजनीतिक संघर्ष में केदार प्रसाद मीणा लिखते है- "महाजनी शोषण के बाद और बहुत हद तक उसी से पनपी आदिवासियों की एक बडी समस्या स्त्री शोषण की रही हैं। आदिवासी औरतों का सदियों से महाजनों, जमीदारों, ठेकेदारों, अंग्रेजों और बाहरी अधिकारियों, बाबुओं ने जमकर शोषण किया है। इन्होंने आदिवासी समाज के खुलेपन का हमेशा गलत इस्तेमाल किया है। इस घृणित कार्य को करने के लिए कभी तो आदिवासी औरतों को मजबूर किया गया और कभी लालच देकर बहकाया गया।

उपन्यास 'समर शेष है' में स्त्री शोषण की समस्या के विरुद्ध आदिवासियों के संघर्ष को एक बड़े आंदोलन के रूप में दिखाया गया। इस संघर्ष की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें स्वयं महिलाएँ भी अपनी स्थिति को बेहतर बनाने के लिए संघर्ष करती नजर आती हैं। यह संघर्ष केवल शारीरिक शोषण के विरुद्ध ही नहीं, बल्कि अपनी जटिल-सामाजिक आर्थिक स्थिति के विरुद्ध भी किया गया।"

योगेंद्र नाथ सिन्हा के उपन्यास 'वन के मन में' स्त्री जागरूक स्त्री के रूप में पाठक के समक्ष आती है। वह पितृसत्तात्मक नियमों से मुक्त होकर उन्मुक्त उड़ान भरना चाहती है। वह कहती है- "पित्रृक समाज सदियों से स्त्री को अपने अधीन रखने के नये-नये हथकंडे अपनाता रहा है। दोहरे शोषण की शिकार स्त्री सामाजिक रूढ़ियों-परंपराओं की बँधी बँधाई परिपाटी को तोड़कर अपने मनुष्य होने की लड़ाई लड़ रही है। वह निर्जीव वस्तु नहीं है कि पुरुष के हाथों की कठपुतली बनी रहे।"

महाश्वेता देवी एक प्रसिद्ध आदिवासी इलेक्ट्रा मानी जाती हैं। रुदाली, १०८४ वें की माँ, चोहि मुण्डा और उसका तीर आदि रचनाओं में मानवीय संवेदना एवं शोषण के प्रतिकार के दर्शन होते हैं। उनका अग्निगर्भ उपन्यास भी आदिवासी संघर्ष की महागाथा है, जिसमें भूमिहीन आदिवासी संथाल, बेगार काटते, बँधुआ जीवन की त्रासदी सहते और आरोपित नक्सलवादी का आरोप ओढ़े लोगों पर उनकी संवेदनात्मक अभिव्यक्ति हैं। महाश्वेता देवी ने आदिवासियों, दलितों और विशेषकर स्त्रियों के शोषण के प्रतिकार में अपने लेखन के ऐतिहासिक दायित्व को समाजशास्त्री ताने-बाने में पूरा किया है। १०८४ वे की माँ उपन्यास को माँ की नजर से लिखा गया है। रचना में संघर्ष दो स्तरों पर है। पहला समाज और सत्ता से तो दूसरा व्यक्तिगत और परिवार ढाँचे में जकड़ी स्त्री स्वतंत्रता का है।

मधुकर सिंह का झारखंड के आदिवासियों पर लिखा उपन्यास 'बाजत अनहद ढोल है' जिसमें संथाल जाति की विशेषता बताते हुए लेखक स्पष्ट करते हैं कि वे सब कुछ बर्दाश्त कर सकते हैं लेकिन अपनी बहू-बेटियों की अस्मिता का मर्दन उन्हें किसी भी कीमत पर गवाँरा नहीं। अशिक्षा, अंधविश्वास के कारण मालिकों, तांत्रिकों ने इनका शोषण किया। सुकेल और जोबा जनजाति के पिछड़ेपन, अशिक्षा, अज्ञानता, अंधविश्वास से दुखी हैं। सुकेल को दुख है कि आदिवासियों की अपढ़ता और अज्ञानता ने भोली-भाली पिलकू को डायन-भूतिन समझकर उसकी जान ले ली। जोबा को भी डर है कि किसी दिन उसके गले में भी ढोल लटकाया जा सकता है। वह जानती है कि जब तक वह बोगा, माझी, पुरोहित, नंगा, जानगुरु उनके भीतर बने रहेंगे ये सब होता रहेगा। गाँव का पुरोहित भी रेलवे लाइन में काम दिलाने के बहाने औरतों को बहला-फुसलाकर ले जाता है और साहब को दे देता है। जोबा संथाल की स्त्रियों की मशाल बनती है। वह जानती है 'आखर ज्ञान' बहुत जरूरी है। आक्रोश की ज्वाला और संथाल जाति का ब्रिटिश सत्ता के खिलाफ विद्रोह एवं स्त्री जाति द्वारा शिक्षा व समानता के नारे को बुलंदी पर लाने का कार्य इस उपन्यास के माध्यम से हुआ है।

राकेश कुमार सिंह के 'पठार पर कोहरा' में भी आदिवासियों पर हुए अत्याचारों का ब्यौरा हम देख सकते हैं। आदिवासी

क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार के कारण रंगेनी का पति होकना मारा जाता है। और उसकी मौत की कीमत बेचू तिवारी पाँच सौ रुपये देता है। रंगेनी अपने घर पर संजीव को स्कूल प्रारंभ करने की अनुमति देती है। रंगेनी निडर है। रंगेनी के माध्यम से आदिवासी नारी की व्यथा का प्रस्तुतीकरण लेखक ने किया है। लेखक आदिवासी स्त्री की दशा का वर्णन इन शब्दों में करता है, "आदिवासी स्त्री की दशा चिंताजनक है। वह मात्र एक पतली धोती बाँधकर पीठ पर बच्चे को बाँधती है और घर बाहर दोनों स्तरों पर कर्म-कर्तव्य निभाती है। उन्हें देखकर संजीव को लगता है कि ये आदिवासी स्त्रियाँ मरने, खपने और बच्चे जनने को ही बनी है। हड्डियाँ जलाती अल्पवयस्क माताओं की अनावृत छातियाँ चिचोड़ते बच्चे देखकर लगता है मानो किसी दिन इन छातियों से दूध की बजाय रक्त न रिस पड़े। स्त्रियों की दयनीय अवस्था को देखकर संजीव को लगता है कि आदिवासी समाज और संस्कृति के प्रति हमारे सुसंस्कृत समाज का रवैया केवल मनोरंजन मात्र का ही है कहा है इस जंगल में वैसी श्रृंगारयुक्त आदिवासी स्त्रियाँ जिन्हें तैलचित्रों में देखते रहे हैं संजीव? गजलीठोरी की अधिकांश महिलाएँ तो दुख-दैन्य की तस्वीरें ही हैं। हाँ-------! एक श्रृंगार अवश्य है, पारंपरिक गोदना-------- ललाट से अंगूठे तक भाँति-भाँति के गोदने आज भी आदिवासी स्त्रियों के आभूषण हैं।"१

आदिवासी जीवन को चित्रित करते उपन्यास इस समाज में व्याप्त बहुत सी सच्चाईयों को समक्ष लाने का कार्य करते हैं। निश्चित रूप से आदिवासी लेखन कल्पना और मनोरंजन का किस्सा नहीं है। अपनी ऊर्जा और शक्ति के बल पर अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ती आदिवासी स्त्री कभी विस्थापन की त्रासदी सहती है तो कभी पूंजीपतियों, ठेकेदारों और कभी अपने समाज में व्याप्त कुप्रथाएँ उसका दोहन करती हैं। आदिवासी समाज में बाल विवाह, बलात्कार, घरेलू हिंसा, बहूविवाह, पैतृक संपत्ति में अधिकार नहीं मिलना जैसे मामलों से जूझती आदिवासी औरतें हर स्तर पर शोषण का शिकार हो रही हैं। इन्हें सही स्थान तभी मिल पाएगा जब इनके प्रति देखे जाने वाला रवैया बदलेगा और इन पर अत्याचार करने वाले अत्याचारियों के खिलाफ सरकार और समाज कड़ा दंड देने का रुख अपनायेंगे।

परिवर्तन सृष्टि का नियम है। आज के युग में सभी क्षेत्रों में तेजी से परिवर्तन हो रहा है। उसी प्रकार साहित्य भी काल एवं समय के साथ बदलता जा रहा है। समय की माँग के अनुसार हिंदी साहित्य की सभी विधाओं में अलग-अलग प्रकार के साहित्य की रचना हो रही है। कुछ साहित्य ऐसा है जिसमें आज की १९वीं शताब्दी में स्त्री विमर्श, दलित विमर्श का विकास हुआ। बाद में काल के अनुरूप आज यांत्रिक एवं बाजारीकरण के युग में आदिवासी विमर्श का चित्रण प्राचीन

काल के साहित्य में भी दृष्टिगत होता है। परंतु आज यह एक स्वतंत्र विधा के रूप में विकसित हो रहा है। देश की अनेक भाषाओं के साहित्य में आदिवासी जनजीवन को लेकर लेखन किया जा रहा है। समकालीन हिंदी साहित्य पर दृष्टि डालने के बाद यह ज्ञात होता है कि हिंदी के उपन्यासों ने अपनी विकास यात्रा में कई पड़ाव डाले हैं। इसने तिलस्मी, ऐयारी उपन्यासों के युग से लेकर आज कथानक और नायक-विहीन तथा परिवेश प्रधान उपन्यास तक एक तीर्थ यात्रा तय की है। उपन्यास साहित्य की इस एक शतकीय कालांतर में हिंदी के आदिवासी जीवन संबंधी उपन्यास की वास्तविक शुरुआत जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी के 'बसंत मालती' उपन्यासों से हुई है। इसका प्रकाशन सन् १८९९ ई॰ में हुआ। तब से लेकर आज तक यह परंपरा आज भी जारी है।

भारतीय साहित्यकार आदिवासियों की सभ्यता, शोषण, विस्थापन, अस्मिता की पहचान, परंपरा, नारी विषयक दृष्टिकोण, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक चेतना आदि पर सुक्ष्मता से दृष्टि डालने का प्रयास कर रहे हैं। जैसा कि आदिवासी साहित्य पर लेखन करने वाले लेखकों में प्रमुख रूप से हरिराम मीणा, श्रीप्रकाश मिश्र, रमणिका गुप्ता, संजीव, राकेश कुमार सिंह, मनमोहन पाठक, महाश्वेता देवी, निर्मला पुतुल, भगवानदास मोरवाल आदि अनगिनत लेखकों ने आदिवासियों की स्थिति पर प्रकाश डालने की कोशिश की है। हिंदी की कवयित्री निर्मला पुतुल की

कविताएँ अधिकतर आदिवासी स्त्री की संवेदना को परखती हैं। आधुनिक युग में भारतीय साहित्य में चित्रित आदिवासी नारी तथा आदिवासी समाज का आदर्शोन्मुख यथार्थवादी चित्रण दृष्टिगत होता है।

आज का बहुतांश साहित्य काल एवं समय के साथ आदिवासी दलित एवं घुमंतू जैसे जनजातियों के जीवन को यथार्थ को केंद्र बना रहा है। भारतीय सभ्यता में आदिवासी समाज अतीत के सानिध्य में अपना जीवन यापन करता आया है। भारत देश विविधता से भरा हुआ है। यहाँ अनेक जाति धर्म व संप्रदाय के लोग रहते हुए भी इनमें एक इकाई देखी जा सकती है। ऐसे समाज मानव समुदाय वाले देश में पुरुष की तुलना में नारी की सामाजिक स्थिति अत्यंत दयनीय एवं गौण रही है। नारी की सामाजिक स्थिति संबंधी हिंदी साहित्य व्यापक फलक पर उपलब्ध होता है। हिंदी के आदिवासी जीवन केंद्रित उपन्यासकारों ने भारतीय आदिवासी नारी की परंपरागत एवं परिवर्तित स्थित को अपने साहित्य में वाणी प्रदान की है।

यह एक निर्विवाद सत्य है कि भारत में नारी जीवन दुखी, पीड़ित एवं शोषित रहा है। इससे और भी भयानक परिस्थिति आदिवासी समाज की स्त्रियों की हैं। उनका आर्थिक एवं दैहिक शोषण होता है। इसका एक कारण यह है कि वह आर्थिक दृष्टि से विपन्न अवस्था में जीवन यापन कर रही हैं। बड़े दुर्भाग्य की बात है कि कुछ

आदिवासी समाज में नारी को पैर की जूती के समान माना जाता है। विमल शंकर नागर के शब्दों में "गोंड एवं करनट जातियों में नारी पर पुरुष का शासन रहता है। नारी को अपने जीवन यापन के लिए पुरुष का आश्रय लेना पड़ता है।" अतः आदिवासी नारियों की स्थिति सामान्य नारी से भिन्न है। कुछ आदिवासी समाज के परिवार में नारी की अहम भूमिका होती है। कुछ नारियाँ स्वच्छंद जीवन जीती हैं। जबकि कुछ नारियाँ पारिवारिक और सामाजिक शोषण की शिकार होती हैं। वे उसे चुपचाप सहती हैं। उनका शोषण घर में पति के द्वारा और बाहर साहूकार, पुलिस, शासकीय अधिकारियों द्वारा होता है। कतिपय नारी ऐसी हैं जो अपने अस्तित्व एवं अस्मिता के प्रति जागृत है, साथ ही अन्याय व शोषण के विरुद्ध आवाज उठाती हैं। यह नारियाँ शोषण के विरुद्ध दुर्गा का अवतार धारण करती हैं। इतना होने के बावजूद भी अधिकांश आदिवासी स्त्रियाँ शोषित ही है। उनका आर्थिक एवं दैहिक शोषण होता है। अमरेंद्र किशोर ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है- "वे खेतों में मेहनत करती है फिर भी उन्हें उचित मजदूरी नहीं मिलती। क्यों नहीं मिलती, यह गाँव के सारे भूपतियों को पता है। पूरी मजदूरी पाने के लिए इन मजदूरिनो को रात में भी अलग से परिश्रम करने पड़ते। मतलब मालिक की इच्छाओं की पूर्ति किये बगैर पूरी मजदूरी कैसे मिल सकती है। ऐसा नहीं है कि जब तक कोई महिला भूस्वामी के खाट-खटियों पर नहीं बिछेगी, तब तक उन्हें पूरा पैसा नहीं मिलता।"

आदिवासी क्षेत्र स्त्रियाँ जहाँ एक ओर पुरुष द्वारा शोषित होती है वही दूसरी ओर दबंग भी होती हैं। 'पिजरे में पन्ना' उपन्यास की रम्या इसी प्रकार की दबंग स्त्री है। जब कोई बदमाश रम्या पर अत्याचार करना चाहता है तब रम्या अपनी स्त्री शक्ति का परिचय देते हुए उसे 'नीच' कहकर झापड़ लगाती है और अपनी गाड़ी में जाकर बैठ जाती है। उसे लग रहा था की यह बदमाश क्रोधित होकर उस पर वार करेगा परंतु स्त्री के दुर्गा रूप को देखकर वह चला गया। इसी उपन्यास में एक ऐसी घटना घटित होती है कि पुलिस दीवी की माँ को कैद-कोठरी में बंद करते हैं। उसकी आँखें भी फोड़ डालते हैं और उसे काटकर फेंक देते हैं। यह भयंकर प्रसंग पुलिस द्वारा आदिवासियों पर विशेषतः महिलाओं पर हो रहे अत्याचार का प्रमाण है। आदिवासी स्त्रियाँ जंगलों में रहती हैं। कठोर परिश्रम करती है और कभी-कभी नशा भी कर लेती हैं। आदिवासी समाज में नारी स्वच्छंद होती है, यौन रूप से वे स्वतंत्रत है रम्या के शब्दों में- "मर्दों की सिट्टी-पिट्टी भुला देना आता है मुझे। मूल्की चौथा मोट्यार है मेरा, वियाह किया हुआ है। वैसे तो कौन गिनती रखें? तन को जब मौज आती है तो अपने आप खोज लेता है किसी को।"

आदिवासी नारी मानसिक और शारीरिक रूप से शोषित है। आदिवासी स्त्रियों की व्यवस्था का लाभ रायसाहब जैसे शोषक लेते हैं। राकेश वत्स के 'जंगल' के आसपास में नारी शोषण के अनेक

प्रसंग दृष्टिगत होते हैं। इस संदर्भ में उपन्यासकार ने लिखा है- "धार्मिक पाखंडवाद ने भी आदमी को बैल तथा भेड़ बकरी बनाने में बहुत बड़ी भूमिका निभाई है। भला यह भी कोई किसी भी स्तर पर, बुद्धि द्वारा स्वीकार करने योग्य बात है कि जिस औरत के साथ बलात्कार हो उसे सबूत के रूप में अग्नि-परीक्षा देनी पड़ी। इससे बढ़कर रूढ़िवादिता और क्या हो सकती है।"

'महर ठाकुरों का गाँव' उपन्यास में यह सच्चाई वर्णित की है कि आदिवासी महर ठाकुरों की स्त्रियाँ अथक परिश्रम कर पारिवारिक दायित्व को निभाती हैं। परंतु इनका शोषण होता है। यह स्त्रियाँ अभिशप्त जीवन जीने के लिए विवश है। शिवप्रसाद सिंह के 'शैलूस' उपन्यास की विशेषता यह है कि इसमें नारी शोषण से अधिक नारी शक्ति का चित्रण किया गया है। उपन्यास में 'रूपा' निर्भय है। वह प्रतिदिन कमालपुर आती-जाती रहती है। इसलिए पुरुषों के स्वभाव से अच्छी तरह परिचित है। वह अनुभव करती है कि ये मर्द दुकहे बिना पूँछ के जानवर है इसलिए वह मर्दों को छुर्रे की नोक पर नचाती है। अतः रूपा मर्दों का घमंड को तोड़ने की क्षमता रखती है। उपन्यास की नायिका सावित्री अन्य आदिवासी नारियों को अपने बचाव के संदर्भ में समझाती है। उसी के शब्दों में "मैं तुम लोगों को शपथ दिला रही हूँ कि अगर तुम्हारी अस्मत पर आँच आये, जिसकी पूरी चिंता है मेरे मन में, तो तुम्हें दुश्मन पर इस

तरह हमला करना होगा कि वह जान जाये की जुड़ावन के कबील में सिर्फ खूबसूरती ही नहीं, खद्दारी भी है। तुम लोग रात-दिन रूपा से छुर्रे चलाना सीखो।" किस प्रकार सावित्री के व्यक्तित्व से और उसके साहस के कारण सभी प्रभावित होते हैं।

सुरेश कुमार श्रीवास्तव के 'वनतरी' उपन्यास में नारी शोषण के कई प्रसंग चित्रित हुए हैं। जमीदार, ठाकुर, सरकारी अधिकारी पुलिस सभी नारी का दैहिक शोषण करते हैं। अतः जब स्त्रियाँ अनेक प्रकार के अत्याचार सहती है तब उनमें बदले की भावना का निर्माण होना स्वाभाविक ही है। संजीव के उपन्यास 'धार' में आदिवासी नारी समाज पर हुए अत्याचारों का विस्तृत वर्णन मिलता है। प्रस्तुत उपन्यास की नायिका मैना का जेल में जेलर के द्वारा दैहिक शोषण किया जाता है। फलस्वरूप वह एक बच्चे की माँ बनती है। किंतु जेलर अपने आपको बचाने के लिए सजा भोग रहे मंगर को उस बच्चे का पिता बनने के लिए विवश कर देता है अतः संपूर्ण उपन्यास के केंद्र में मैना है। उसी के माध्यम से नारी शक्ति का परिचय दिया गया है। इसी के संदर्भ में बी•के• कलासवा के विचार द्रष्टव्य हैं- "अपनी आदिवासी परंपरा की माटी से उपजी इस नारी में साहस, स्वाभिमान, सेवाभाव, अन्याय के खिलाफ संघर्ष, विद्रोह भावना जैसी कई विशेषताएँ मिलती है। अनुभव से बनी मैना क्रांतिकारी क्रियाशक्ति बनकर लेखकीय विचारों को नए आयाम देती है।" वीरेंद्र जैन

के 'पार' उपन्यास में डाकुओं के आतंक का वर्णन हुआ है जो आदिवासी स्त्रियों पर अत्याचार करते रहते है। इसी कारण स्त्री कम और पुरुष ज्यादा बचे है। आदिवासी क्षेत्र में स्त्रियों का व्यापार होता है। मानो वे कोई बिकाऊ वस्तु हो। निर्मल साव वस्तुएँ बेचने से अधिक लड़कियों को बेचने का व्यवसाय पसंद करता है। इसी क्षेत्र में मंदिर के पुजारी भी आदिवासी स्त्रियों का शोषण करते हैं। जब अक्कल भगवान के दर्शन करने मंदिर गई तब कैलाश महाराज ने जबरदस्ती उसके साथ कुकर्म किया।

श्रीप्रकाश के 'जहाँ बाँस फूलते है' उपन्यास की नारी सदैव पुरुष के यौन शोषण से व्यथित रही है। मैत्रेयी पुष्पा के 'अल्मा कबूतरी' उपन्यास में कबूतरा आदिवासी स्त्रियों पर इनके अपराधी होने के कारण पुलिस अत्यधिक जुल्म करती है। कबूतरा समाज में स्त्रियों का दर्जा अत्यंतहीन है। यहाँ उन्हें पण्य माना जाता है। अतः उपन्यास लेखिका ने संपूर्ण उपन्यास में नारी की दशा और दिशा की ओर संकेत किया है। इस प्रकार अनेक लेखकों ने आदिवासी स्त्रियों पर होने वाले अन्याय, अत्याचार का चित्रण सहज ढंग से रेखांकित किया है।

राकेश कुमार सिंह ने 'पठार पर कोहरा' में लेखिका शरद सिंह ने 'पिछले पन्ने की औरत' उपन्यास में भगवानदास

मोरवाल ने 'रेत' उपन्यास में तथा रणेन्द्र के 'ग्लोबल गाँव के देवता' आदि उपन्यासों में आदिवासी नारी के शोषण का चित्रण दृष्टिगत होता है।

संक्षेप में यह स्पष्ट होता है कि आदिवासी केंद्रित हिंदी उपन्यासों में आदिवासी स्त्रियों का जीवन संतोषजनक नहीं है। इसके अनेक कारण है जैसे आर्थिक अभाव के कारण परिवार में संघर्ष होता रहता है, अंधविश्वास के कारण परिवार शोषित होता है और इस आदिवासी समाज में स्त्रियों को कई बार दैहिक व्यापार करने के लिए विवश किया जाता है। आदिवासी समाज में पुरुषों का शराब पीना भी पारिवारिक अशांति का कारण है जिसका प्रमाण 'काला पहाड़' उपन्यास मिलता हैं।

मूलतः आदिवासी समाज घने जंगलों में पहाड़ों की घाटियों में रहता है अतएव यह समाज आधुनिक सभ्यता की धारा से कटा हुआ है। अज्ञानी एवं निरक्षर होने के कारण ये शासन, पुलिस व्यवस्था, राजनीति से बेखबर रहते हैं। इस प्रकार का चित्रण 'नीलोफर' उपन्यास में मिलता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आदिवासी समाज की अनेक समस्याए हैं, इनमें प्रमुख रूप से दरिद्रता की समस्या दिखाई देती है। ये लोग आर्थिक अभाव में जीने के लिए विवश हैं। आदिवासी केंद्रित उपन्यासों में आदिवासी समाज के रहन-सहन उनकी गरीबी, अंधविश्वास और शोषण का सर्वांगीण चित्रण हुआ हैं।

सहायक ग्रंथ-

०१- भूमंडलीकरण और दलित, उत्तम कांबले

०२- साम्यवादी वैश्वीकरण का भारत के दलितों पर असर, अनंत तेलतुबंडे

०३- डॉ• प्रकाश चंद्र मेहता- आदिवासी संस्कृति एवं प्रथाएँ

०४- डॉ• किरण कुमार कवठेकर- आदिवासी वारलींचे लोक साहित्य

०५- संपादक, डॉक्टर राजकुमार- नारी के बदलते आयाम

०६- संपादक, डॉ• रमेश कुरे, डॉ• मालती शिंदे, डॉ• प्रवीण शिंदे- आदिवासी साहित्यः विविध आयाम

०७- कब तक पुकारु, रांगेय राघव, पृ•-४३,१६२

०८- सूरज किरण की छाँव, राजेंद्र अवस्थी, पृ•-१७२,१७३,१९०,१९१,

०९- अल्मा कबूतरी, मैत्रेयी पुष्पा, मूल पृष्ठ से

१०- मरंग गोंडा नीलकंठ हुआ, महुआ माजी, पृ•-१५६

११- वाङ्मय, त्रैमासिक, पृ•- १२१

१२- वन के मन में, योगेंद्र नाथ सिन्हा, पृ•-८८

१३- पठार पर कोहरा, राकेश कुमार सिंह, पृ•-१५४

१४- समकालीन हिंदी उपन्यासों में आदिवासी विमर्श, डॉ॰ शिवाजी देवरे, डॉ॰ मधु खराटे, पृ॰-२६९

१५- जंगल जंग लूट मची है, अमरेंद्र किशोर, पृ॰-८०

१६- पिंजरे में पन्ना, मणि मधुकर, पृ॰-६३

१७- जंगल के आस-पास, राकेश वत्स, पृ॰-१६७

१८- शैलूष, शिव प्रसाद सिंह, पृ॰-७८

१९- हिंदी में आदिवासी जीवन केंद्रित उपन्यासों का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ॰-१७७